UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182024

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82 T66C Accession No. P. G. H1542

Author टंडन, प्रेमनारायण

Title चंद्रगुप्त : एक अध्ययन · 1956 .

This book should be returned on or before the date last marked below.

आलोचना व निबन्ध

चंद्रगुप्त : एक अध्ययन

['प्रसाद' जी के प्रसिद्ध नाटक की समीक्षा]

आलोचना व निबन्

लेखक—
प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०

सेवा संस्करण

प्रकाशक

विद्यामंदिर, रानाकटरा, लखनऊ

प्रथम संस्करण : दिसंबर, १९४५

द्वितीय ,, : नवंबर, १९५०

तृतीय ,, : अगस्त १९५४

चतुर्थ ,, : मार्च, १९५६

मूल्य : ढाइ रुपए

Checked 1969

मुद्रक

नवभारत प्रेस, लखनऊ

विषय-सूची

१ दृश्यों का साहित्यिक अध्ययन .... पृ० ५
[प्रथम अंक—५, द्वितीय अंक—१७, तृतीय अंक—२३, चतुर्थ अंक—२६ ।]
२—'चंद्रगुप्त' का ऐतिहासिक आधार .... पृ० २८
३—प्रधान कार्य और उसका विकास .... पृ० ४३
[कार्य की अवस्थाएँ—आरम्भ ४५, ४६, विकास और सीमा, उतार—४७, समाप्त—४८ ।
४—सामाजिक स्थिति का चित्रण .... पृ० ४६
[तत्कालीन राजनीतिक स्थिति—४६, राजनीति और विद्यार्थी, शासन-नीति—५१, राष्ट्रीयता की भावना—५३, सामाजिक स्थिति ५७—धार्मिक स्थिति ६०, प्राचीन शिक्षा—६१ ।]
५—कथोपकथन .... पृ० ६२
[कथावस्तु-प्रकाशक कथोपकथन, चरित्रप्रकाशक कथोपकथन ६३, तुरतबुद्धि-प्रकाशक कथोपकथन—६८, कथोपकथन के दोष—७० ।]
६—स्वगत का प्रयोग .... पृ० ७४
७—गीत और उनकी उपयोगिता .... पृ० ८४
८—भाषा, शैली और सूक्तियाँ .... पृ० ८७
[भाषा—८८, शैली—६१, सूक्तियाँ—६८ ।]
६—चरित्र-चित्रण और पात्र .... पृ० १०
[प्रमुख पात्र—पत्रियाँ, चंद्रगुप्त—१०६, चाणक्य—११३, सिंहरण—११९, कल्याणी १२३, अलका—१३०,

कार्नेलिया—१३५, साधारण पात्र—पत्रियाँ, पर्व्वतेश्वर—१४१, आंभीक—१४३, राक्षस—१४५, मालविका—१४८, सुवासिनी—१५०]

१०—अन्य सामान्य बातें १५२

[नायक कौन—१५२, रंग—१५३, खटकने वाला दो बातें—१५३

११—परिशिष्ट १—नाटककार प्रसाद १५७

१२ - परिशिष्ट—२—हिंदी नाटक का विकास १६३

नोट:—छापे की भूल से शुरू के फार्म में पृष्ठ संख्या १—१६ के बजाय ५—२० पड़ गई है। उस पहले फार्म की पृष्ठ संख्या १ से ही समझें। सिलसिला ठीक है।

चंद्रगुप्त : एक अध्ययन

दृश्यों का साहित्यिक अध्ययन

प्रथम अङ्क

पहला दृश्य—कथा-विकास, चरित्र-चित्रण और देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से परिचित करानेवाला नाटक का यह प्रथम दृश्य कला की दृष्टि से सफल है। प्रथम परिचय में ही नाटक के पाँच प्रमुख पात्र-पात्रियों के चरित्रों की मुख्य विशेषताएँ संकेतरूप में हमें ज्ञात हो जाती हैं। चाणक्य का ब्राह्मणत्व पर गर्व और राजनीतिक दूरदर्शिता, सिंहरण का साहस और देश-प्रेम, आंभीक का देश-द्रोह और उद्दण्ड व्यवहार, चंद्रगुप्त का गौरवादर्श और आत्मविश्वास तथा अलका की निष्कपटता और राष्ट्रीय भावना आदि का परिचय हमें उनके विचारों से मिल जाता है।

'शीघ्र भयानक विस्फोट होगा। आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है। आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनंतर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे। किंतु यदि किसी प्रकार सिंधु की प्रखर धारा को यवन सेना पार न कर सकती·····।' इत्यादि वाक्यों से देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति और भारतीय नरेशों की पारस्परिक फूट का पता चलता है और इन कथनों की सत्यता जानने के लिए हमारी उत्सुकता बढ़ती है। 'आर्य,

हम मागध हैं और यह (सिंहरण) मालव । अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम शस्त्र की परीक्षा भी देते'—चंद्रगुप्त का यह कथन, और 'मेरा देश मालव नहीं, गांधार भी है; यही क्या समग्र आर्यावर्त है । गांधार आर्यावर्त से भिन्न नहीं, इसीलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ'—सिंहरण के ये वाक्य सुन कर गांधारकुमारी अलका का आश्चर्य प्रकट करके पूछना—'क्या कहते हो !' इस बात का द्योतक है कि उस समय राष्ट्रीयता की भावना का क्षेत्र संकुचित हो गया था और प्रांतीयता-प्रेम के कारण समस्त भारतवर्ष की भौगोलिक एकता के रहते हुए भी सारे राष्ट्र के लोग उसे अपना देश नहीं समझते थे ।

अभिनय की दृष्टि से इस दृश्य की ओजभरी सक्रियता अभिनंदनीय है । चाणक्य और सिंहरण का वार्तालाप आरंभ होते ही आंभीक का गरजते हुए आ जाना, चंद्रगुप्त-आंभीक का असि-युद्ध, चाणक्य के सामने चंद्रगुप्त की देश-भक्तों-सी प्रतिज्ञा, सिंहरण और अलका के उत्साहवर्द्धक वाक्य दर्शकों के हृदयों में वीरोचित भावना का संचार करते हैं ।

साहसी और निर्भीक सिंहरण वीरोचित ढंग से 'चंचला रणलक्ष्मी' के शुभागमन से प्रसन्न हो कह उठता है—'तब आओ, देवि ! स्वागत' ! उसी समय गांधार-कुमारी अलका का 'देवी' के समान प्रवेश करना बड़ा चमत्कारपूर्ण है ? (बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' के प्रथम सर्ग में उषाबाला के सौंदर्य का वर्णन करते-करते उर्मिला का प्रथम दर्शन भी ऐसे ही कराया है ।)

दृश्य के अंत में अलका और सिंहरण का एक दूसरे की ओर देखते हुए प्रस्थान करना युवावस्था के उमड़ते हुए हृदयों के परस्पर अनुरक्त हो जाने का काव्योचित संकेत है ।

विशेष—यूनानी लेखकों ने अपने इतिहासों में 'आंभीक' का नाम 'एंफिस' दिया है । इसका भारतीय रूप 'अंभि' या 'आंभीक' होना

चाहिए और आधुनिक इतिहासकारों ने दूसरे रूप का प्रयोग ही प्रायः किया भी है।

दृश्य के बीच में एक बात खटकती है। सिंहरण के शब्दों से गांधार के राजकुमार आंभिक के क्रोधाभिभूत हो जाने के असाधारण कांड को देखकर चाणक्य की सतर्क बुद्धि चंद्रगुप्त और सिंहरण को तक्षशिला-परित्याग की सम्मति देती है। और उत्तर में चंद्रगुप्त कहता है—'आर्य, हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा यदि देते'। इस वाक्य से नाटककार को यद्यपि प्रांतीयता-प्रेम की व्याख्या करने का अवसर मिल गया है, परंतु न तो पूर्वोक्त कथन से ही इसको वह संबंधित कर सका है और न स्थिति के ही यह उपयुक्त है। जिस सिंहरण की चंद्रगुप्त ने आंभीक से क्षण भर पहले रक्षा की थी, उसी को अकारण युद्ध के लिए ललकारना संगत नहीं प्रतीत होता। और उसके वाक्य की अनुपयुक्तता उस समय और भी बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि जरा देर पहले ही अलका को समझाते हुए चाणक्य कह चुका है—गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिए होता है, द्वंद्वयुद्ध के लिए नहीं।

दूसरा दृश्य—तीन उद्देश्य इस दृश्य के हैं। एक, नन्द की वसंतोत्सव पर विलास-लीला, प्रत्येक कुंज में मदिरा, कलश और चषक के साथ विलासिता का नृत्य, दिखाकर यह संकेत करना कि मगध का प्रख्यात शासक नंद किस प्रकार आमोद-प्रमोद और विलास-पंक में मग्न है। दूसरा उद्देश्य है, कलाकुशल विद्वान राक्षस की कुलीनता का परिचय देकर उसको अमात्य निर्वाचित करवा देना। तीसरी बात यह है कि जिस देश का शासक 'ब्रह्मास्त्र से अधिक सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों' से डरता हो, गर्व से इस बात की घोषणा करे और विलासी युवक-युवतियों के बीच में स्वीकारे—'मेरी मगध की नागरिकाओं का शासन मेरे ऊपर है'—उस देश का पतन दूर नहीं है।

कथा-संगठन की दृष्टि से इस दृश्य के सम्बन्ध में कहा जा सकता

है कि इसे स्वतंत्र रूप न देकर नाटककार किसी अन्य से संबंधित करके भी अपना काम चला सकता था।

विशेष—'रत्नावली' नाटिका में वासंती वेश में शोभित महाराज नंद महोत्सव का आनन्द छत पर बैठकर लूटते हैं और इस प्रकार गौरवपूर्ण सम्मान की मर्यादा का पालन करते रहकर भी प्रजा के वसन्तोत्सव में सम्मिलित हो लेते हैं। परन्तु प्रस्तुत नाटक मे मगध के विलासी युवक-युवतियों के साथ उनका विलास गौरव को कितना कम करने वाला है! इस चित्रण से प्रसाद जी का सकेत है कि मगध के निवासी, नंद के शासन-काल में, बहुत सुखी, मस्त और नित्य-प्रति आनन्द मनानेवाले थे; उनके शासक भी इस आमोद-प्रमोद में सम्मिलित होते थे; परंतु इस दृश्य में युवक-युवतियों का चित्रण इससे कही अधिक इस बात की ओर संकेत करता जान पड़ता है कि मगध का यह शासक मूर्ख, विलासी और आत्म-सम्मानहीन एक साधारण व्यक्ति है, तभी तो नागरिक उसकी हँसी उड़ाने में भी संकोच नही करते।

तीसरा दृश्य—नंद के अत्याचार और ब्राह्मण-विरोध के परिचायक इस दृश्य में चाणक्य के हृदय की कोमलता पर होनेवाले प्रथम आघात की कहानी है। आवेश में आकर मगध को उलटने के लिए चाणक्य का तैयार हो जाना, फिर कुछ क्षण बाद उदासीन जीवन बिताने का निश्चय करना, इन बातों से उसके मानसिक द्वंद्व का पता चलता है और हम उसके चरित्र की जटिलता का परिचय भी पाते है। अपनी झोपड़ी 'शैशव की स्निग्ध स्मृति-स्वरूप' को देखकर बालकाल की धवल मधुर हँसी का स्मरण हो आना, चाणक्य की हार्दिक भावुकता की ओर एक सकेत है। शकटार की कन्या सुवासिनी के प्रति उसकी जिज्ञासा से किशोरावस्था में उसकी ओर चाणक्य के आकर्षित होने का पता लगता है। पिता के अपमान का बदला चाणक्य किस प्रकार लेगा, यह जानने को हम उत्सुक है। विलासी मगध-साम्राज्य में कुछ घर ऐसे भी थे जिन्हें 'पशु की खोह' कहने में भी चाणक्य सकुचाता है; इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-

धर्मानुयायी नंद के शासनकाल में ब्राह्मणों की दशा अत्यंत दीन हो गयी थी।

कथा-संगठन की दृष्टि से इस दृश्य के दो-तीन संकेत महत्वपूर्ण हैं। पहला तो यह कि शकटार और चणक-परिवारों पर आयी हुई पूर्व विपत्तियों से पाठक परिचित हो जाता है। दूसरे, इन शासकीय-आपत्तियों की कथा चाणक्य को मगध-शासक का शत्रु बना देती है। तीसरे, बाल-सहचरी सुवासिनी की दयनीय स्थिति उसका मानसिक संतुलन ही बिगाड़ देती है और वह विक्षिप्त-सा हो जाता है। चौथा और सबसे महत्वपूर्ण संकेत नाटककार के कौशल का परिचायक है। ब्राह्मण चणक सर्वथा साधनहीन होने पर भी जब मगध-सम्राट के विरुद्ध प्रचार करने का साहस करता है, सो भी अपने लिए नहीं, दूसरे के लिए और समझाने पर भी नहीं मानता, तब चाणक्य उस हठवादिता से सर्वथा रहित कैसे हो सकता है ?

भविष्य में मगधपति से किस प्रकार वह बदला लेता है और पिता का सर्वस्व हड़पनेवाले बौद्धों से किस तरह पेश आता है, यह जानने की पाठक को उत्सुकता होती है।

चौथा दृश्य—कथा की प्रगति में सहायक प्रथम अंक का द्वितीय महत्वपूर्ण दृश्य जिसमें उत्तरापथ के अनेक गणतंत्रों की मागधीय स्थिति से तुलना की गयी है कि उन गणतंत्रों में सब प्रजा स्वच्छंद फल-फूल रही है, पर 'उन्मत्त मगध साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है' और वहाँ का शासक 'शास्त्रबल और कूटनीति द्वारा सदाचारों के सिरों पर ताण्डव नृत्य कर रहा है। वह सिद्धान्तविहीन नृशंस, कभी बौद्धों का पक्षपाती और कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर, दोनों में भेदनीति चलाकर, बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है।' विलासी और कूटनीतिज्ञ नन्द के व्यवहार से सारी प्रजा, यहाँ तक कि कन्या कल्याणी और उसकी सखियाँ भी,

जिनके प्रति नंद का कन्या-सा स्नेह है, संतुष्ट नहीं हैं और सहज प्रीति न करके भयभीत-सी रहती हैं।

सखी नीला के मुख से 'आज तक्षशिला से लौटे हुए स्नातक सरस्वती-दर्शन के लिए आये हैं, मागधकुमारी कल्याणी का यह प्रश्न—क्या 'सब' लौट आये हैं?—किसी स्नातक-विशेष के प्रति उसके आकर्षण की ओर संकेत करता है। चंद्रगुप्त से यह सुनकर, 'मैं अपने कई बाल-सहचरों को भी न पहचान सका'—कल्याणी का पूछ बैठना—'परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे'—हमारी उस शंका का समाधान कर देता है।

राक्षस और सुवासिनी के पारस्परिक आकर्षण की ओर लेखक ने दृश्य के आरंभ में जो संकेत किया है उससे हमारी उत्सुकता बढ़ती है। 'कुसुमपुर का स्वर्गीय सुमन' सुवासिनी मगध-सम्राट् 'नंद की विलास-लीला का उपकरण' है, यह जानते हुए भी राज-कोप की परवाह न करके राक्षस का उसे अपनाने का निश्चय कर लेना पाठक की उत्सुकता बढ़ाता है। चाणक्य पर इस सूचना से क्या प्रभाव पड़ेगा, यह जानने को भी हम उत्सुक हैं।

आरंभ इस दृश्य का कुछ ऐसे ढंग से हुआ है कि 'मैं नंद की विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती' और 'दुराचारी सदाचार के द्वारा शुद्ध हो सकता है'—सुवासिनी के ये दोनों कथन महत्वपूर्ण होते हुए भी हमें चमत्कृत नहीं कर पाते। राक्षस का निश्चय भी इसी प्रकार दर्शकों को गंभीर नहीं होने देता।

पाँचवाँ दृश्य—नाटकीय क्रियाशीलता की दृष्टि से सफल दृश्य, आदि से अंत तक दर्शक जिसे साँस रोक कर देखता है। मगध-शासक नंद, बौद्ध-अमात्य राक्षस, ब्राह्मण चाणक्य, सेनापति-पुत्र चंद्रगुप्त और नंदकुमारी कल्याणी के कथन उनके चरित्रों पर प्रकाश डालते हैं। चाणक्य के प्रति नंद का व्यवहार पाठकों की उत्सुकता को बढ़ाता है। कथा-संगठन के प्रश्न को लेकर कहा जा सकता है कि पौरव पर्वतेश्वर

का अपमानजनक उत्तर पाने पर कोई भी आत्माभिमानी शासक उसको सहायता देने की बात सुनकर नंद की तरह ही क्रुद्ध होता है। अतः चाणक्य के प्रति मगध सम्राट का व्यवहार अनुचित नहीं जान पड़ता और इसलिए जोर-जोर से 'ब्राम्हण-ब्राम्हण' चिल्लाकर स्नातक चाणक्य के लिए दर्शक की सहानुभूति जाग्रत करने का प्रयत्न बहुत सफल और संगत नहीं है।

कल्याणी का चरित्र तो यहाँ विचित्र लगता है जो सारे दरबार में अपने अपमान को स्वीकार करती है और फिर सम्राट और अमात्य के हँसी उड़ाने पर सहसा शांत हो जाती है। पिता को चंद्रगुप्त की बात मानते न देख कर एक बार वह उसकी सिफारिश करती है; पर वह फिर डाँट दी जाती है और तब इस तरह चुप हो जाती है जैसे डाँट दिए जाने के लिए ही बोली थी।

नाटक के प्रथम दृश्य से इसका सम्बन्ध लेखक ने देश की राजनीतिक स्थिति बताकर मिला दिया है—'यवनों की विकटवाहिनी निषध पर्वतमाला तक पहुँच गयी है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसंधि है। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतंत्र हैं; वे उस सम्मिलित पारसीक यवन बल को रोकने में असमर्थ होंगे।' पर्वतेश्वर और मगध-सम्राट के विरोध का लेखक ने प्रबल कारण स्थिर कर दिया है। इससे इतिहास के इस तथ्य की रक्षा हो जाती है कि सिकंदर का सामना अकेले पर्वतेश्वर को करना पड़ा—मगध से उसे कोई सहायता न मिली—और दूसरे, विदेशियों का विरोध करने के इस सत्प्रयत्न से मगध के तटस्थ रहने का यथोचित-सा कारण भी मालूम हो जाता है।

दृश्य के आरम्भ में राक्षस का एक कथन—'केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है'—उसके बौद्ध धर्म्मानुयायी हो जाने की सूचना देता है और इस प्रकार हमें पता लगता है कि सुवासिनी की प्रसन्नता के लिए उसने राजचक्र में केवल वाणी से ही बौद्ध-मत का समर्थन नहीं किया, अपनी प्रतिज्ञा को उसने कार्यरूप भी दे

दिया। राजनीति की दृष्टि से बौद्धधर्म के सम्बन्ध में चाणक्य का यह वाक्य—'एक जीव की हत्या से डरनेवाले तपस्वी बौद्ध, सिर पर मँडरानेवाली विपत्तियों से, रक्त-समुद्र की आँधियों से आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे'—ऐतिहासिक सत्य को ही प्रकट करता है। बौद्ध शासकों का सेना रखना भी इसकी पुष्टि करता है कि शासन के स्थायित्व के लिए अहिंसा के सिद्धान्तों से काम नहीं चलता। मगध शासक भी इससे सहमत हैं; परंतु पर्वतेश्वर द्वारा अपमानित होने के कारण यवनों के विरुद्ध सेना भेजने को प्रस्तुत नहीं होता।

छठा दृश्य—यवनों के साथ गांधार नरेश की जिस अभिसंधि के संबंध में नाटककार ने प्रथम दृश्य में संकेत किया है, उसका पूरा परिचय हमें यहाँ मिलता है। पौरव पर्वतेश्वर से गांधारपति का बद्धमूल वैर है। इसीलिए विदेशियों के हाथ में पूर्णरूप से आत्मसमर्पण कर वे देश-द्रोही बनना स्वीकारते हैं। यवन-आक्रमण के समय ओहिंद नामक स्थान पर पुल बनाय जाने की चर्चा प्राचीन इतिहासों में मिलती है। इस दृश्य का आरंभ उसी प्रसंग से किया जाता देख पाठक नाटककार की सूक्ष्म ग्राह्य बुद्धि से प्रभावित होते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस दृश्य का अधिक महत्व नहीं है।

'जन्मभूमि के लिए ही यह जीवन है। फिर जब आप-सी सुकुमारियाँ इसकी सेवा में कटिबद्ध हैं, तब मैं पीछे कब रहूँगा'—सिंहरण का यह कथन चरित्र को बहुत उठानेवाला नहीं है। सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस का चित्रण भी यहाँ खटकता है। आरंभ में उसके वाक्य—मैं उस मानचित्र को किसी भी पुरुष के हाथ में होने से उसे जैसे बनता, ले ही लेता और मैं उसे (मृत्यु को) आमंत्रण देने के लिए ही उतनी दूर से आया हूँ—जिस निर्भीकता का परिचय देते हैं, उसका निर्वाह वह नहीं कर पाता। 'मानचित्र मुझे दो या प्राण देना होगा'—कहकर सिंहरण से कुछ लिये-दिये बिना ही वह भाग

निकलता है । सैनिको के साथ लौटने पर उसका पुन कथन—निकल गया मेरा अहेर'—थोथा और हास्यास्पद है । यवन सेनापति के सामने ही सिंहरण अलका को दो बार 'राजकुमारी' कहकर सबोधित करता है तिस पर भी उसे बदी बनाने के लिए सैनिको से उसका विवाद करना क्या इस बात का सकेत नही है कि कायर होने के साथ ही सिल्यूकस मूर्ख भी है ? दृश्य के आरभ मे अलका के लिए उसका 'सुदरी' सबोधन विजय-गर्व-जन्य लपटता सूचित करता है ।

सातवाँ दृश्य—बदीगृह मे चाणक्य । राष्ट के कल्याण और आर्यावर्त की गौरव-रक्षा के लिए चिंतित तथा ब्राह्मणत्व पर गर्व करने-वाला यह व्यक्ति आवेशभरी स्पष्टवादिता के लिए बन्दी कर लिया जाता है । पिंजडे मे बन्द सिह और घायल सर्प की तरह अपनी विवशता के लिए गरजता और फुसकारता चाणक्य हमारे सामने है । उसके चरित्र की विशेषताओ से परिचित कराना ही इस दृश्य का उद्देश्य है । 'मै आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूंगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा'—चाणक्य का यह कथन दर्शको की उत्सुकता बढाता है ।

आत्माभिमानी वह इतना है कि राक्षस के प्रस्ताव को निरस्कार-सहित ठुकरा देता है, उसके हाथ से मुक्ति पाना भी वह अपमानजनक समझता है । दूरदर्शी वह ऐसा है कि राक्षस के मुख से 'गुप्त प्रणिधि बन कर' तक्षशिला भेजे जाने की बात सुनते ही समझ जाता है कि पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए ही यह आयोजन है । समय की आवश्यकता समझकर आदर्श राष्ट्रप्रेमी की भाँति ही वररुचि को वह सावधान करता है—'केवल पाणिनी से काम न चलेगा । अर्थशास्त्र और दडनीति की अब आवश्यकता है ।' इसकी साहसपूर्ण हठवादिता दर्शक को विशेष प्रभावित करती है । बदीगृह मे राक्षस के मुँह पर ही वररुचि से उसका यह कहना—'मै कुत्ते को कुत्ता ही बनाना चाहता हूँ । नीच के हाथ मे रुद्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है उसे मै भोग

रहा हूँ'—मगध के बौद्ध अमात्य के प्रति घृणा के साथ उसकी निर्भीकता का परिचय भी देता है।

आठवाँ दृश्य—कला की दृष्टि से सुन्दर और सफल दृश्य। वृद्ध गांधार-नरेश, राजकुमार आंभीक और कुमारी अलका, तीनों के चरित्रों की रेखाएँ यहाँ बड़े चटक रंगों से चित्रित हैं। तृष्णा की अग्नि में पतंगों की तरह जलता हुआ गांधार-नरेश कभी पुत्र-स्नेह के आवेश में, महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए देश-द्रोह के कुटिल पथ पर चलनेवाले आंभीक को ढील देने की बात सोचता है और कभी अनुभवी और दूरदर्शी शासक की तरह गांधार को कष्ट-कलंक से बचाने के लिए चिंतित हो जाता है। यह मानसिक द्वन्द्व उस समय और भी बढ़ जाता है जब पुत्री अलका को, पुत्र आंभीक के आचरण के विपरीत, राष्ट्रीयता की ओर बढ़ते वह देखता है।

राष्ट्रीयता की सात्विक भावना से ओत-प्रोत अलका के विचार इस आर्य-ललना का चरित्र दर्शकों की दृष्टि में बहुत ऊपर उठा देते हैं। आंभीक के हृदय में देशद्रोह की क्षुद्र भावना सीमा पर तब पहुँचती है जब वह रक्त-संबंध की मोह-ममता को ठुकराकर कहता है—'और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा।'

ओज, व्यंग्य, आवेश, क्रोध, पश्चात्ताप, विरोध, विवशता आदि बातों के कारण आदि से अंत तक इस दृश्य की क्रियाशीलता बनी रहती है। अन्यमनस्क भाव से कुछ सोचते हुए पिता से गांधार में विद्रोह मचाने की आज्ञा लेकर अलका का चला जाना तथा कुछ देर पश्चात् पुत्र आंभीक और गांधार का राज्य, दोनों को त्यागकर महाराज का उसे खोजने चल देना, पाठकों की उत्सुकता बढ़ाता है। देश-द्रोही भाई आंभीक के सामने ही अलका के कहे हुए ये वाक्य—'जिस उन्नति की आशा से आंभीक ने यह नीच कर्म किया है उसका पहला फल यह है कि आज मैं बंदिनी हूँ, संभव है कल आप होंगे और परसों गांधार की जनता

बेगार करेगी। उसका मुखिया होगा आपका वंश-उज्ज्वलकारी आंभीक !' .....आर्यावर्त के सब बच्चे आंभीक-जैसे नहीं होंगे ; वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायँगे।..... अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए जो लड़कर मर नहीं गया, वह कायर नहीं तो क्या है'—उसके असीम साहसयुक्त देश-प्रेम के परिचायक हैं।

नवाँ दृश्य—शौर्य-गर्व में चूर पर्व्वतेश्वर और पददलित ब्राम्हणत्व के अपमान से खीझे हुए चाणक्य के ओजपूर्ण वार्तालाप के अतिरिक्त इस दृश्य का ऐतिहासिक महत्व है 'पिप्पलीकानन के मौर्यों को सच्चे क्षत्रिय' सिद्ध करना। चाणक्य का तर्क है—'आर्य-क्रियाओं का लोप हो जाने से इन लोगों को वृषलत्व मिला; ये क्षत्रिय हैं।' इतिहासकारों के इस विवादग्रस्त विषय के संबंध में इस प्रकार अपना मत प्रकट करने का अवसर प्रसाद जी ने निकाल लिया है।

क्रियाशीलता की दृष्टि से यह दृश्य सफल है। भविष्य के संबंध में चाणक्य ने पर्व्वतेश्वर को सावधान करने के लिए कहा है—'स्मरण रखना, आसन्न यवन युद्ध में, शौर्य-गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनों के द्वारा समग्र आर्यावर्त पदाक्रांत होगा। उस समय तुम मुझे याद करोगे।' इसी प्रकार चंद्रगुप्त के संबंध में चाणक्य की भविष्य-वाणी है—'जिसके लिए कहा गया है कि क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त्तवाणी नहीं सुनायी पड़नी चाहिए, मौर्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।' ये दोनों कथन हमारी उत्सुकता बढ़ाते हैं।

दसवाँ दृश्य- यवन सेनापति सिल्यूकस को चंद्रगुप्त से परिचित कराना और मागध के असीम तेज से प्रभावित करके यवन के मुख से कहला देना कि यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है, इस दृश्य का उद्देश्य है। परन्तु इसकी पूर्ति के लिए जो आडम्बर किया गया है वह विशेष आकर्षक और महत्वपूर्ण नहीं है। भोले-भाले बच्चे की तरह सिल्यूकस को चरका देकर, उसे मूर्ख बनाकर अलका को उसके सामने से हटा देने में क्या तत्व है ? अचेत पड़े चंद्रगुप्त के पास एक व्याघ्र-

को बैठा दिखाना इस साधारण किंवदंती का भद्दा पालन भर ही तो है कि उसके तेज से हिंस्र पशु तक मुग्ध थे। चाणक्य द्वारा चंद्रगुप्त के दिये गये परिचय में 'मगध का एक निर्वासित राजकुमार' वाक्यांश सुनकर सिल्यूकस का 'कुछ विचारने' लगना इस बात का संकेत है कि वह राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क भी रखता है; परन्तु दृश्य के आरम्भ में अलका को एकान्त में पाकर उसका यह कथन, 'यहाँ तो तुम अकेली ही हो सुन्दरी' उसके छिछोरेपन का परिचायक है जो यवन सेनापति के लिए बड़ी लज्जा की बात है। दृश्य के अन्त में महात्मा 'दांड्यायन' का नाम हमें आगे का हाल जानने को उत्साहित करता है।

कथा-संगठन की दृष्टि से यह दृश्य निरर्थक ही है और इसे हटा देने पर उसमें कोई त्रुटि नहीं आ सकती। सचेत होने पर सिंह को मरा देख चंद्रगुप्त जब सारी वस्तु-स्थिति अपनी तुरत बुद्धि से समझ लेता है और सिल्यूकस से 'आपने प्राणों की रक्षा की' कहकर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है, उसके पश्चात् भी यवन सेनापति का सारी बात इस प्रकार स्पष्ट करना—'जब तुम अचेत पड़े थे तब यह तुम्हारे पास बैठा था; मैंने विपद समझकर इसे मार डाला' निरर्थक तो है ही, उसके कार्य के गौरव को घटानेवाला भी है।

ग्यारहवाँ दृश्य—अदृष्टदर्शी भारतीय दार्शनिक की निर्भीकता, तत्वदर्शिणी बुद्धि और भविष्यवाणियों से, अपने को जगद्विजेता समझनेवाले सिकन्दर को प्रभावित कराना इस दृश्य का प्रथम उद्देश्य है तथा चन्द्रगुप्त के असीम तेज की ओर उसे आकृष्ट करना, दूसरा।

(१) प्रत्येक परिमाणु न जाने किस आकर्षण से खिचा चला जा रहा है, जैसे काल अनेक रूपों में चल रहा है। (२) मुझसे कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप से कहो; जिसे आवश्यकता होगी, सुन लेगा। (३) भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभासमात्र हो जाता है उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते, वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ाकंदुक नहीं बन सकता। (४)

जिस वस्तु को मनुष्य दे नही सकता उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़ कर दूसरा दभ नही। (५) मगलमय विभु अनेक अमगलो मे कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उस नही समझ सकते। (६) कल्याणकृत का पूर्ण विश्वासी होना पड़ेगा। विश्वास सुफल देगा, दुर्गति नही। (७) विजय-तृष्णा का अत पराभव मे होता है। भारतीय दार्शनिक दाड्यायन के य सब तत्वपूर्ण कथन सर्वथा सत्य और प्रभावशाली है। गाधारलक्ष्मी अलका क लिए, 'अच्छा, जाओ देवि, तुम्हारी आवश्यकता है', ब्राम्हणत्व के गौरव पर गर्व करनवाले चाणक्य के लिए, 'सब विद्याओ क आचार्य होने पर भी तुम्हे उसका फल नही मिला, उद्वेग नही मिटा', और चन्द्रगुप्त को दिखाकर सिकदर के लिए, 'देखो, यह भारत का भावी सम्राट तुम्हारे सामने बैठा ह आदि इस दार्शनिक की भविष्यवाणियाँ नाटकीय दृष्टि से बडी चमत्कारपूर्ण ओर प्रभावशालिनी है।

तुमसे चन्द्रगुप्त से कब परिचय हुअ? सिकन्दर के इस प्रश्न के उत्तर मे सिल्यूकस का यह कहना कि उनसे तो मै पहले ही मिल चुका हूँ, इस बार पुन उसकी मूर्खता का परिचय देता है।

प्रथम अक के प्रथम दृश्य की भाँति यह अतिम दृश्य भी महत्वपूर्ण, नाटकीय सक्रियता से युक्त ओर सफल है। दृश्य के अत मे सबका स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त की ओर देखना ओर चन्द्रगुप्त का आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगना भी चमत्कारपूर्ण और सोद्देश्य है।

द्वितीय अंक

पहला दृश्य—प्रथम अक के विभिन्न दृश्यो मे जिन विपक्षियो से हम अलग-अलग परिचित हो चुके है वे सभी यहाँ एकत्र है। विश्व-विजय की कामना रखनेवाले सिकन्दर की इच्छा-पूर्ति के सम्बन्ध मे पहली शका दाड्यायन के आश्रम म उसकी भविष्यवाणी सुन कर पाठक को होती है। उसकी पराजय का द्योतक दूसरा सकेत नाटककार

ने यहाँ किया है जब फिलिप्स और सिल्यूकस, इन दोनों सेनापतियों का पारस्परिक वैमनस्य यवन सेना में फैलनेवाले भावी आंतरिक विरोध का बीज बोता है। चन्द्रगुप्त के मुख-तेज से सिकन्दर और सिल्यूकस प्रथम अंक में चकित हो चुके हैं। यहाँ उसकी साहसपूर्ण निर्भीकता के साथ शस्त्र-कौशल दिखलाने का उद्देश्य है उसकी भावी विजय के लिए पाठक के हृदय में आशा उत्पन्न करना। यवन शिविर में सम्राट और सेनापति के सामने ही 'मुझे आपसे सहायता नहीं लेनी है;' 'मैं यवनों को अपना शासक बनने को आमंत्रित करने नहीं आया हूँ', 'मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं;, 'मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आंभीक समझने की भूल नहीं होनी चाहिए'—सिकन्दर से कही हुई ये बातें और उसी के सामने आंभीक को दी हुई यह फटकार—'स्वच्छ हृदय भीरु-कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता; अनार्य, देशद्रोही आंभीक, चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से, या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है,' निःसंदेह चन्द्रगुप्त की असीम वीरता और निर्भीकता का परिचय देती हैं। यवन-सेनापति सिकन्दर का यह कथन, 'भारत आज तक कभी आक्रांत नहीं हुआ,' हमारी प्राचीन स्वतंत्रता की उज्ज्वलता सिद्ध करता है।

चन्द्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के आकर्षण का भेद यहाँ सबको ज्ञात हो जाता है। फिलिप्स द्वारा किये गये अपमान की बात कार्नेलिया इसीलिए भूलना नहीं चाहती कि 'उस घटना से किसी और का सम्बन्ध है।'

दृश्य के आरंभ में पता लगता है कि दारा को पराजित करने के पश्चात् सिकन्दर ने उसकी युवती कन्या से जबरदस्ती विवाह कर लिया है। इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि दारा की कन्या से सिकंदर का विवाह हुआ था ; और इसके लिए उसकी स्वीकृति ले ली गयी थी ; उसकी प्रसन्नता से यह संबंध हुआ था। परंत इस दृश्य में तो

उसका कार्य एक लुटेरे-सा है जो जीत में मिली हर चीज का इच्छानुसार भोग करने को प्रस्तुत है और उसके इस व्यवहार से 'वह देव-कुमारी-सी सुन्दर बालिका सम्राज्ञी कहने पर तिलमिला जाती है।'

ग्रीक शिविर के पास फिलिप्स के दुर्व्यवहार से कार्नेलिया की रक्षा करने के लिए चंद्रगुप्त का पहुँचना नाट्यकला की दृष्टि से बहुत सुन्दर नहीं है। संकट में पड़ी प्रेमिका को बचाने के लिए उसके प्रेमी को अवसर पर पहुँचा देना 'प्रसाद' जी का ऐसा परिचित ढंग है कि उसमें नवीनता का कोई आकर्षण शेष नहीं रहता और इसी से यह बात कभी-कभी बहुत खटकने लगती है।

दृश्य के अन्त में चंद्रगुप्त के निकल जाने पर जिस सेनापति को सिकंदर ने विचाराधीन कर रखा है, उसी से पूछता है—'यह क्या'? और चटाक से तमाचे जैसा उत्तर पाता है—'आपका अविवेक'। यह उत्तर उस सिल्यूकस का है जिसके लिए सिकंदर जरा देर पहले ही कह चुका है तुम अपने को विचाराधीन समझो। क्या ग्रीकों का राजकीय शिष्टाचार ऐसा ही होगा।

उद्भांड में सिंधु के किनारे, ग्रीक-शिविर के पास, सिकंदर अपने सैनिकों के साथ आता है और वहीं फिलिप्स और सिल्यूकस में झड़प हो जाती है और चंद्रगुप्त, सिकंदर और आंभीक को डांट-फटकार कर निकल जाता है। पाठक को खटकता है कि ऐसे एकांत स्थान में यवन सम्राट आया ही क्यों? लेखक को भी यह स्थान कुछ खटकता है; तभी तो वह कहता है—यहाँ एकान्त में मुझे कुछ ऐसी बातों पर विचार करना है जिन पर भारत-अभिमान का भविष्य निर्भर है।

दूसरा दृश्य—यवनों के विरोध का प्रथम उल्लेख्य उद्योग दिखाना इस दृश्य का जितना ही महत्वपूर्ण उद्देश्य है, उतनी ही असफलता लेखक को इसमें मिली समझना चाहिए। चाणक्य, सिंहरण, कल्याणी, पर्व्वतेश्वर, सभी यहाँ विचित्र रूप में हमारे सामने आते हैं और उनके प्रथम वाक्यों से पता लगता है जैसे सभी घबड़ाए हुए और परेशान

हैं। अभी जो चाणक्य व्यंग्य कर रहा था वही क्षण भर बाद सिंहरण के न आने का समाचार पाकर पहेली-सी बूझता है—'जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह रह कर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो, उमस बढ़ रही हो और अषाढ़ के आरम्भिक दिन हों, तब किस बात की संभावना करनी चाहिए ?' चाणक्य इसी समय सिंहरण को आते देखकर पूछता है—'तुम आ गए परंतु.....।' और सिंहरण जैसे काट खाता है—'किंतु-परंतु नहीं आर्य।' कल्याणी का प्रथम कथन—'सेनापति ! मैंने दुःसाहस करके पिता जी को चिढ़ा तो दिया, पर अब कोई मार्ग बताओ जिससे मैं सफलता प्राप्त कर सकूँ'—संकेत करता है जैसे वह अपने किये पर पछता रही है। पर्व्वतेश्वर प्रवेश करता है। कल्याणी और मगध-सेनापति को वह अभी तक जानता नहीं, परंतु उन्ही से पूछता है—'यह किस गुल्म का शिविर है ?' कितना हास्यास्पद यह प्रश्न है ! विश्व-विजेता सिकंदर का सामना करनेवाला पर्वतेश्वर इतना बेखबर है कि मागध सेना के आने की सूचना भी उसे नहीं मिली ! सँपेरे के वेश में आकर सिंहरण पर्व्वतेश्वर को सूचना देता है—'रातोरात यवन-सेना वितस्ता के पार हो गयी है, समीप है, महाराज, सचेत हो जाइए।' तो क्या महाराज सचेत नहीं थे ? क्या यही सूचना देने के लिए चाणक्य ने इन लोगों का वेश बदला था ? इतने से उसे कौन-सी सिद्धि मिल गयी ? क्या सचमुच पर्व्वतेश्वर को यह सूचना नहीं मिली थी ? क्या उसके पास गुप्तचर नहीं थे ? या वे बिलकुल मूर्ख थे ? यह सूचना पाकर पौरव वीर उनका कृतज्ञ न होकर पहले तो उन्हें बंदी बनाने की आज्ञा देता है और फिर उद्विग्न भाव से घबराया हुआ चला जाता है। कितना विचित्र सेनापति है यह !

दृश्य के आरम्भ में अलका से भेंट कराने के लिए गांधारराज को युद्धभूमि में ले आना निरुद्देश्य ही है। यह काम पहले भी हो सकता था। दृश्य के अंत में कल्याणी और चन्द्रगुप्त की बातचीत भी व्यर्थ

हैं। चंद्रगुप्त उसे सूचना देता है—'इस युद्ध में पर्व्वतेश्वर की पराजय निश्चित है।' तो क्या चाणक्य और सिंहरण के साथ पौरव की पराजय देखने के लिए ही वह सँपेरा बना था ? यहाँ अपने उस भावी कार्य-क्रम की सूचना वह क्यों नहीं देता जिसके लिए वह भारत का उद्धारकर्त्ता कहलायगा ?

कथा-संगठन दृष्टि से यह दृश्य बहुत लचर और ढीला है। बस, इससे हमें इतना मालूम हो जाता है कि पर्व्वतेश्वर ने यवनों से लोहा लेना स्वीकारा है और वेश बदले हुए चंद्रगुप्त और सिंहरण वहीं मौजूद हैं; पर चाणक्य का, जो कुछ देर पहले इन लोगों के साथ था, अब पता नहीं है।

तीसरा दृश्य साधारण दृश्य जिससे युद्ध की भयानकता का परिचय नहीं मिलता। पौरव पुरु ने वितस्ता पर यवनों का बड़ी वीरता से सामना किया, परंतु यहाँ यह उल्लेख भी अनाकर्षक ही है। अपनी भागती हुई सेना को देखकर पर्व्वतेश्वर का ओजभरी वक्तृता देना अवसर के अनुकूल है ; परंतु 'पराजित पौरव के साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?'— सिकंदर के इस प्रश्न के उत्तर में पर्व्वतेश्वर का यह कथन—'जैसा एक नरपति अन्य नरपति के साथ करता है', रटा-रटाया और निर्जीव-सा है। चंद्रगुप्त और सिंहरण के चरित्र इस दृश्य में ऐसे अकर्मण्य-रूप में चित्रित हैं जैसे वे खड़े खड़े इस भारतीय वीर का पतन भर देखते रहे हों। युद्ध-क्षेत्र में कल्याणी के आने का रहस्य यहाँ खुलता है। पिता से वह यह कह कर आयी है कि जाती हूँ पौरव पर्व्वतेश्वर को यह दिखाने कि राजकुमारी कल्याणी किसी क्षत्रियाणी से कम नहीं, परंतु चंद्रगुप्त को एकांत में पाकर बतलाती है कि केवल तुम्हें देखने के लिए युद्ध-क्षेत्र में आयी हूँ। मुझे विश्वास था कि तुम युद्ध म अवश्य होगे। मगध-कुमारी के इस कथन से उसके प्रेम का परिचय पाकर व्यस्त चंद्रगुप्त जब उसे डाँट देता है—'परंतु राजकुमारी, समय नहीं है;

मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला से स्मृति-लता मुरझा गयी है,' तब कल्याणी को मन मसोस कर रह जाना पड़ता है।

दृश्य के अन्त में संधि हो जाने के पश्चात् आंभीक का आकर घायल सिंहरण और उसे उठाती हुई अलका, दोनों को बन्दी कर लेना, पर्व्वतेश्वर का उन्हें अपने यहाँ रखने का प्रस्ताव करना और सिकंदर का उससे सहमत हो जाना, एक सम्मिलित रहस्य बन कर पाठक की उत्सुकता बढ़ाता है।

चौथा दृश्य—सुमन-सी कोमल सिंधुकुमारी की भोली-भाली सरलता देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। चंद्रगुप्त का भूखा हृदय उसकी ओर आकृष्ट होता है और 'रणभेरी के पहले मधुर मुरली की तान' सुनने की कामना उसमें जाग उठती है। चंद्रगुप्त और मालविका को इस तरह उद्यान के एक अंश में बातें करते पाकर चाणक्य का यह कहना—'छोकरियों से बातें करने का यह समय नहीं है', उसकी हृदयहीन अशिष्टता का परिचय देता और उसके गुरुजनत्व की गंभीरता के मर्मस्थल पर आघात करता है; साथ ही चंद्रगुप्त और मालविका के लिए अपमानजनक भी है।

चन्द्रगुप्त ने चारों ओर घूमने-फिरने का जो वर्णन किया है, उससे यवन-सेना की गति-विधि का पता पाठकों को चल जाता है। 'नंद के पास कई लाख सेना है, यह सुनकर यवनों में आतंक छा गया और एक प्रकार का विद्रोह फैल गया। यवन सैनिकों ने विपाशा को पार करना अस्वीकार कर दिया और वे देश लौट चलने के लिए आग्रह करने लगे। सिकन्दर के बहुत अनुरोध करने पर भी युद्ध के लिए सहमत नहीं हुए'—आदि सूचनाएँ विश्व-विजय का स्वप्न देखनेवाले सिकन्दर के भारत से लौटने का कारण बतलाती हैं, यद्यपि विदेशी इतिहासकार संभवतः इससे पूर्ण सहमत न होंगे। ऐतिहासिक ग्रंथों में भारत से लौटते समय सिकन्दर के एक बार पराजित होने की चर्चा मिलती है। यहाँ चन्द्रगुप्त की यह इच्छा कि जगद्विजेता का ढोंग करनेवाले को

पराजय का भी एक पाठ पढ़ा दिया जाय, इतिहास-सिद्ध सत्य को गौरव प्रदान करती है। मगध की छोटी -सी सेना को 'सिकन्दर की यवन-सेना के सामने इतना विराट प्रदर्शन' करने की आज्ञा देना कि वह भयभीत हो, चंद्रगुप्त की रण-कुशलता की ओर एक संकेत है।

पाँचवाँ दृश्य—सिंहरण और पर्व्वतेश्वर के वीर कार्यों से पाठक पहले परिचित हो चुके हैं। इस दृश्य में उनके हृदय का कोमल पक्ष देखिए। अपने प्रति सिंहरण की प्रीति का परिचय पाने का जो ढंग अलका ने ग्रहण किया है, सहृदयों को वह सुन्दर लगेगा। पर्व्वतेश्वर की प्रतिज्ञा उसके चरित्र पर प्रकाश डालने के साथ-साथ पाठक की उत्सुकता बढ़ाती है।

'आंभीक की भीतरी इच्छा थी कि पर्व्वतेश्वर की कई रानियों में मैं भी हो जाऊँ'—सिंहरण से इतना कहने के बाद अलका का यह वाक्य, 'परन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया' निरर्थक है। इसी प्रकार सिंहरण के प्रस्थान करने पर 'परन्तु व्यथा को दबाना पड़ेगा' लिखने के बाद संभवतः अपने संकेत को स्पष्ट करने के लिए ही अलका कहती है—'सिंहरण को मालव भेजने के लिए प्रणय के साथ अत्याचार करना होगा'—और यह वाक्य स्थिति की सारी गंभीरता पर पानी फेर देता है। बंदी और घायल सिंहरण को पहले तो अलका ने चिढ़ा दिया, फिर कहती है—'जाओ सो रहो, मैं आज्ञा देती हूँ'—और सिंहरण चला भी जाता है; स्पष्टतः यह विचित्र प्रणय-व्यापार है। सिंहरण सोने जाता है तब समय रात का होगा; इस समय पर्व्वतेश्वर का आना कुछ खटकता है; विशेषकर जब वह सिंहरण के लिए रथ और अलका के लिए शिविका इसी समय भेजने की बात कहता है।

छठा दृश्य—मालवों की युद्ध-परिषद्। चाणक्य के विचारों से सहमत होकर चंद्रगुप्त को मालवों और क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का सेनापति नियुक्त किया जाता है। प्रभाव की दृष्टि से चाणक्य की वक्तृता बहुत ओजपूर्ण और सफल नहीं कही जा सकती। चरित्र-

चित्रण का इस दृश्य में कोई प्रश्न नही उठता और कथा-संगठन की दृष्टि से यह दृश्य व्यर्थ भी है। चौथे दृश्य मे चद्रगुप्त ने और पाँचवे में अलका ने जिस प्रकार बीच की घटनाओ का सक्षेप मे विवरण दिया है, उसी प्रकार इसका भी उल्लेख किया जा सकता था।

चाणक्य की वक्तृता का ओजपूर्ण भाग सुनने के बाद भी जो नागदत्त विरोध के स्वर मे जोर से कहता है—'ऐसा नही हो सकता' अर्थात् चद्रगुप्त को सेनापति बनाने को हम तैयार नही, वही दो-तीन साधारण वाक्य और सुनकर अपनी भूल स्वीकार करता है—'समझ गया, चद्रगुप्त को ही सम्मिलित सेना का सेनापति बनाना श्रेयस्कर होगा'—उसका विरोध और स्वीकृति दोनो ही हास्यास्पद जान पडते है।

सातवाँ दृश्य—साधारण दृश्य जो इस बात की सूचना देता है कि नारी की सहज आकषण-शक्ति से अलका परिचित है। ललित स्वर मे एक गीत गाकर पर्व्वतेश्वर को उन्मत्त बनाकर उसकी विकलता से लाभ उठाती है और छुटकारा पाने का उपाय सोच निकालती है।

दृश्य के अन्त मे अलका का एक स्वगत-कथन दिया गया है—'मै चलूँ, निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा।' इस कथन की विशेष आवश्यकता न थी, क्योकि लेखक यदि अलका की सूझ बूझ से पाठक को परिचित कराना ही चाहता है तो दूसरे ही क्षण पर्व्वतेश्वर के चले जाने के पश्चात् सारा रहस्य समझा सकता था।

आठवाँ दृश्य—यवनो को भारतीय सीमा के बाहर निकालने के आयोजन का परिचायक दृश्य। 'हम लोगो ने महान् दायित्व उठाया है, इसका निर्वाह करना होगा', 'जीवन-मरण से खेलते हुए करेगे वीरवर!'—चंद्रगुप्त और सिंहरण के ये दोनों वाक्य उनकी देशभक्ति और साहस का परिचय देते है। चद्रगुप्त का यह कथन—'वे हमी लोगो के युद्ध है जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छदता से हल

चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रणनीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण परन्तु साधारण कार्य हैं'— यवन-रणनीति से भारतीय प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध करता है।

इस दृश्य में चाणक्य की अनुपस्थिति दिखाने का उद्देश्य संभवतः यह बताना है कि चन्द्रगुप्त उसके न रहने पर भी युद्ध-कार्य का संचालन सतर्कता से करने में समर्थ है।

दृश्य के अंतिम भाग में चंद्रगुप्त बड़ी गम्भीरता से सिंहरण को जो रहस्य—'पर एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए'—कह कर समझाना चाहता है, वह सिर्फ यह है, 'हमें शत्रु की नीति से युद्ध करना होगा।' शंका यहाँ यह होती है कि शत्रुओं की नीति केवल आतंक फैलाने की है, तब क्या चंद्रगुप्त भी आतंक फैलाना चाहता है ? अपनी नीति चंद्रगुप्त ने स्पष्ट की होती तो अच्छा था; अन्यथा उसका यह वाक्य महत्वहीन है।

नवाँ दृश्य - कल्याणी के लिए चाणक्य की विचित्रता और राक्षस के लिए विकटता सिद्ध करनेवाला दृश्य जिससे हमें चाणक्य के मनोविज्ञान के पारखी होने का पता लगता है। कल्याणी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है और राक्षस सुवासिनी को चाहता है तथा मगध का शुभचिंतक भी है, इन बातों का अध्ययन करके नीतिज्ञ चाणक्य दोनों के दुर्बल अंगों को अपना लक्ष्य बनाता है। कल्याणी जब मगध लौटने का प्रस्ताव करती है तो चाणक्य उत्तर देता है —'परन्तु राजकुमारी, (तुम्हारे जाने से) चंद्रगुप्त का असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा, वह बिना पतवार की नौका-सदृश इधर-उधर बहेगा'। और जब राक्षस मगध की अविपन्नता का प्रश्न उठाता है तो वह उत्तर देता है—'तो यवनों से कह दिया जाय कि हमारी क्षुद्र सेना तुम्हारे लिए मगध तक पहुँचने का सरल पथ छोड़ देने को प्रस्तुत है' ? राक्षस सारी स्थिति समझता है और कल्याणी के साथ वहीं रुकने का निश्चय

करता है। कुछ देर बाद राजकुमारी के मंच से चले जाने पर चाणक्य एक भेद-भरी बात राक्षस से कहता है—'नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित संबंध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा'। इस कुटनीति से राक्षस और मगध की सेना को वहीं रोक कर यवनों को भ्रम में डाले रहने के प्रयत्न में चाणक्य सफल होता है।

चाणक्य का प्रतिद्वंद्वी राक्षस यहाँ बिलकुल बुद्धिहीन और अदूरदर्शी -सा चित्रित किया गया है और इससे चाणक्य की नीतिज्ञता पर आघात होता है। राक्षस को चाणक्य हर बार पराजित करता है। यदि राक्षस उसी की तरह चतुर और नीतिज्ञ होता तो चाणक्य की विजय गौरवपूर्ण समझी जाती, परन्तु निर्बलों को हराने में प्रशंसा की कोई बात नहीं है।

दसवाँ दृश्य—द्वितीय अंक का अंतिम दृश्य। मालव दुर्ग के भीतरी भाग में सिकन्दर और सिल्यूकस से युद्ध। इतिहास के अनुसार इसी युद्ध में सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ था और अंत में इसी घाव से मरा भी। निरीह जनता का अकारण वध करनेवाले नृशंस सिकन्दर को चंगुल में पाकर भी 'भारत के ऊपर एक ऋण, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का प्रत्युत्तर' देकर सिंहरण ने भारतीय वीरों को विशालहृदयता का परिचय दिया है। इसी प्रकार अपने प्राण बचाने -वाले यवन-सेनापति सिल्यूकस को चारो ओर से घेर कर भी चन्द्रगुप्त द्वारा बचकर निकल जाने देना, कृतज्ञता का बोझ हलका करने का अपूर्व उदाहरण है। इन दोनों दृश्यों का संगठन करने से प्रसाद जी की राष्ट्रीयता के प्रति असीम भक्ति का सुन्दर परिचय मिलता है।

यवन-सेनापति का चित्रण यहाँ भद्दा हुआ है। सिकन्दर तो घायल था; यवन-सैनिक उसे उठा ले गये। युद्ध-क्षेत्र से इस प्रकार उसका हट जाना ठीक है। परन्तु 'मार्ग चाहते हो या युद्ध ? मुझ पर कृत-ज्ञता का बोझ है, तुम्हारा जीवन'।—चन्द्रगुप्त के इस कथन को

सुनकर कुछ सोचते हुए सिल्यूकस का यह उत्तर देना—'हम दोनों के लिए प्रस्तुत हैं; किन्तु.....।'—उसके चरित्र को बहुत गिरा देता है। चंद्रगुप्त के प्रश्न की ध्वनि है कि मारते तो हम जरूर, पर खैर तुमने मेरी जान बचायी थी, इसलिए एक बार तुम्हें छोड़ दूँगा अगर तुम माफी माँग लो। और सिल्यूकस उत्तर देता है—सामना हो गया है, इसलिए लड़ना तो पड़ेगा ही, किन्तु अगर एक बार प्राण-दान देते तो क्या कहना था! चन्द्रगुप्त सचमुच उसे क्षमा कर देता है; पर साथ ही एक आघात और करता है—'जाओ सेनापति, सिकन्दर का जीवन बच जाय तो फिर आक्रमण करना'। आशय यह कि तुम्हारे सम्राट को भी हम पर आक्रमण करने का फल मिल चुका है, उन्हें भी हम क्षमा कर चुके हैं: जाओ।

दृश्य के आरंभ में भी खटकनेवाली दो-एक बातें हैं। अलका जानती है कि दुर्ग ध्वंस करने के लिए यंत्र लगाये जा चुके हैं.....और आज ही युद्ध का अंतिम निर्णय है, फिर वह सिंहरण को शीघ्र ही क्यों बुला भेजती है? उत्तर में केवल यह कहना कि चंद्रगुप्त ने सिंहरण को दुर्ग के भीतरी भाग की रक्षा का भार सौंपा था और अलका को एक शून्य परकोटा दिखायी दिया, पर्याप्त न होगा; क्योंकि इससे सेनापति की असावधानी ही प्रत्यक्ष होती है। सिंधुप्रदेश की राजकुमारी से अलका कहती है—'जा, परन्तु सिंहरण को शीघ्र ही भेज दे'। क्या यह संबोधन राजकुमारी मालविका के योग्य है और अनन्य प्रेम का परिचायक मान लिया जाय?

तृतीय अङ्क

पहला दृश्य—नये अंक का पहला दृश्य नन्द की निन्दा और चाणक्य की प्रशंसा से आरम्भ होता है। अमात्य राक्षस ने अनेक बार चाणक्य के कृत्यों पर आश्चर्य प्रकट करके पाठक की दृष्टि में उसका सम्मान बढ़ा दिया है; परन्तु मगध-शासक नन्द के लिए अमात्य राक्षस

के कुछ विशेषण—यथा, 'मूर्ख मगध-नरेश ने संदेह किया है', 'क्रूरता और मूर्खता की प्रतिमूर्ति नंद ! पशु !'—क्रोध के आवेश में कहे जाने पर भी खटकते हैं। सिकन्दर द्वारा अलका की वीरता की प्रशंसा के उल्लेख का उद्देश्य भारतीय गौरव-वृद्धि करना है। राक्षस को बन्दी करने के लिए सैनिकों का आना, अमात्य से बातचीत और नये सैनिकों का आकर पूर्वागतों को बन्दी कर लेना नाटकीय सक्रियता के लिए अच्छा है, पर चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस दृश्य में कोई नवीनता नहीं है।

अमात्य राक्षस इस नाटक में आत्मसम्मान-भाव से बिलकुल रहित चित्रित किया गया है; जो आता है 'भले ही वह राक्षस क्यों न हो' कहकर उसकी हँसी उड़ाता है और मजा यह कि राक्षस किसी की अपमानजनक बातों की ओर ध्यान नहीं देता। सबसे अधिक खटकनेवाली बात है सिकंदर का चित्रण। जिस सिकंदर की 'विश्व-विजय-लालसा' पर तुषारपात हो चुका है, जिसकी 'कूटनीति प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहती है' और जिसे सिंहरण ने बुरी तरह घायल किया है, वही सारा क्षोभ, सारा क्रोध भुलाकर, आत्माभिमान भुलाकर, भारतीयों के उत्सव में सम्मिलित हो, यह कुछ जँचा नहीं। यदि अलका को तक्षशिला-नरेश आंभीक की बहन समझकर सिकदर नीति-विशेष से इनमें सम्मिलित हुआ माना जाय, तो यह उस 'नृशंस' की प्रवृति के विपरीत बात होगी जिसने 'निरीह जनता का अकारण वध किया है'। इसे भी यदि उसकी कूटनीति की एक चाल मान लें तो दोष का कुछ परिहार हो सकता है।

दूसरा दृश्य—चरित्र-चित्रण और अभिनयात्मक क्रियाशीलता की दृष्टि से प्रथम दृश्य से कहीं अधिक सफल दृश्य। क्षोभ और क्रोध-भरे जिस स्वगतकथन से इसका आरंभ होता है वह अनिश्चित और अविश्वासयुक्त अभिमानी प्रकृतिवाले व्यक्ति की विवशता का परिचायक होते हुए भी कुछ विलक्षण लगता है। क्षत्रिय वीर

पर्व्वतेश्वर से चन्द्रगुप्त की प्रशंसा लेखक ने इसका गौरव बढ़ाने के लिए करायी है। चाणक्य के समझाने पर 'जिन यवनों ने लांछित और अपमानित किया है उनसे प्रतिशोध' लेने के लिए पर्व्वतेश्वर का तैयार हो जाना, भविष्य के लिए पाठक की उत्सुकता बढ़ाता है। कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के वार्तालाप के दो उद्देश्य हैं—एक, इस यवनकुमारी से भारतवर्ष को 'मानवता की जन्मभूमि' कहलाकर प्राचीन भारतीय गौरव की अभिलषित वृद्धि करना; और दूसरा, चन्द्रगुप्त के हृदय के कोमल पक्ष से पाठक को अवगत कराना; संकेत करना कि वह इस सिल्यूकस-पुत्री कार्नेलिया की ओर आकृष्ट है। फिलिप्स का सारा व्यवहार हास्यास्पद है। कार्नेलिया की एक बात का उत्तर देता हुआ वह प्रवेश करता है; परन्तु चन्द्रगुप्त को देख भी नहीं पाता। तो क्या वह समझता है कि राजकुमारी दीवालों से बात कर रही थी? कुछ देर बाद जैसे होश में आने पर उसे देखकर चौंकता है। और तुरन्त कह उठता है—मैं तुमसे द्वन्द्वयुद्ध किया चाहता हूँ; परन्तु चन्द्रगुप्त को उसके लिए प्रस्तुत पाकर न जाने क्यों टाल जाता है—अच्छा, फिर कभी मैं तुम्हें आह्वान करूँगा।

चन्द्रगुप्त से कहा हुआ कार्नेलिया का यह वाक्य—मुझे विश्वास है कि मैं पुनः लौटकर भारत आऊँगी,' और चाणक्य का राक्षस को मूर्ख बनाकर उसकी आंगुलीय मुद्रा ले लेना, दोनों कार्य कथा की गति-विधि के लिए पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं।

खटकनेवाली दो-एक बातें इस दृश्य में और हैं। वृद्ध गांधारराज का ठीक उस समय मंच पर प्रवेश करना जब स्वस्तिमती अलका सौभाग्यवती होने जा रही है, विचित्र लगता है। दो-एक दिन पहले वह आ जाता और उसके आने पर विवाह का प्रसंग उठाया जाता तो क्या बुराई थी? चाणक्य और चन्द्रगुप्त को मगध की प्रजा समझकर जो राक्षस सत्य गर्व कर रहा है, वही, चाणक्य के पूछने पर,

'तो तुम स्वीकार करते हो' ? उत्तर देता है—'शत्रु की उचित प्रशंसा करना मनुष्य का धर्म है। तुमने अद्भुत कार्य किये, इसमें भी कोई संदेह है ?' तो क्या राक्षस चाणक्य को अपना 'शत्रु' समझता है। तब इस शत्रु पर विश्वास करके क्षण भर बाद ही आंगुलीय मुद्रा वह क्यों सौंप देता है ? और चाणक्य उसके इस कथन पर ध्यान क्यों नहीं देता ? क्या उसे मूर्ख समझकर ? या आंगुलीय मुद्रा लेने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए एक गाली सुन लेना बुरा नहीं समझता ?

तीसरा दृश्य—नाटक का सबसे छोटा, परन्तु साथ ही भारतीय गौरव की याद दिलानेवाले उद्देश्य से युक्त महत्वपूर्ण दृश्य। सिकंदर द्वारा भारत की प्रशंसा और अभिनन्दन कराना सोद्देश्य है। 'जिस समय तुम भारत-सम्राट होगे, उस समय में उपस्थित न रह सकूँगा', तेंतीस वर्ष की छोटी अवस्था में ही काल-कवलित होनेवाले सिकंदर का चन्द्रगुप्त से कहा हुआ यह वाक्य आगे चलकर सत्य सिद्ध होता है। अत्याचारी नन्द के हाथ से मगध का उद्धार करने में चन्द्रगुप्त की सहायता के लिए पर्व्वतेश्वर को प्रस्तुत होते देख पाठक को आशा होती है कि चाणक्य को मगध में सफलता ही मिलेगी।

चौथा दृश्य—मगध के अत्याचारी शासन के ध्वंस की प्रस्तावना का परिचायक साधारण दृश्य। चाणक्य यहाँ कूटनीतिज्ञ के रूप में चित्रित है; परन्तु उसके गौरव में छोटे के प्रति थोड़ी अवहेलना का भाव भी है। 'पिता के कारागार में होने पर भी आप मुझे मगध जाने से रोक रहे हैं ?' चंद्रगुप्त के इस प्रश्न के उत्तर में चाणक्य का यह कथन, 'यह प्रश्न अभी मत करो'—एक झिड़की नहीं तो क्या है ? 'मगध जाऊँगा, देखूँ, पर्व्वतेश्वर क्या कहते हैं ?'—भविष्य के संबंध में चंद्रगुप्त की यह शंका उसके चरित्र को ऊपर उठानेवाली नहीं है। चंद्रगुप्त, चाणक्य और पर्व्वतेश्वर के मंच पर आने के पूर्व अलका और सिंहरण का वार्तालाप भी निरर्थक-सा है। 'मैं चाणक्य के हाथ का पुतला बनकर मगध का नाश नहीं करा सकता'—राक्षस की इस

स्वीकारोक्ति की ध्वनि कि वह अब तक जान-बूझ कर कठपुतली बना रहा, हास्यास्पद ही है। 'मालव कृतघ्न नहीं होते'—बार-बार सिंहरण का यह कथन भी उसके चरित्र की गंभीरता घटाता है। 'द्वन्द्व के लिए फिलिप्स का निमंत्रण' और मगध-शासन-परिवर्तन की योजना – दोनों बातें यहाँ पाठक की उसुकता बढ़ानेवाली हैं।

पाँचवाँ दृश्य - नन्द की मानसिक हलचल के साथ चरित्र की हीनता का परिचय इस दृश्य में मिलता है। आरम्भ और विकास इस दृश्य का बड़ी सफलता से हुआ है, परन्तु अन्त में राक्षस के पहुँचते ही अभिनय का सारा आकर्षण जाता रहता है। मगध-सम्राट् नन्द की रंगशाला में अमात्य राक्षस का इस प्रकार बेरोक-टोक चले आना है भी तो खटकनेवाली बात। 'अच्छा तो इस समय जाता हूँ'—मगध-सम्राट् से कहा गया राक्षस का यह वाक्य भी सुन्दर नहीं बना।

छठा दृश्य—मगध-शासन-परिवर्तन का परोक्ष प्रयत्न। कुसुमपुर के 'नागरिक नन्द की उच्छृंखलता से बहुत असंतुष्ट' हो गये हैं, इस स्थिति से चाणक्य पूरा लाभ उठाता है। अपनी सफलता पर उसे पूर्ण विश्वास है, फिर भी अलका से कहे हुए—'चाणक्य अपना कार्य अपनी बुद्धि से साधन करेगा'—जैसे वाक्य उसकी कूटनीतिज्ञता के गौरव के सामने हमारा मस्तक झुकानेवाले नहीं हैं।

कुसुमपुर को सामने देखकर चाणक्य के हृदय में सोई बाल-स्मृतियाँ जाग उठना नाट्य-कला की दृष्टि से सुन्दर है। सुवासिनी के प्रति हृदय में उठती कसकभरी आवाज सुनकर भी विचलित न होना, चाणक्य के चरित्र की दृढ़ता का द्योतक है। आत्माभिमानयुक्त संकल्प की भयानक रमणीयता पर उसका मुग्ध होना भी सुन्दर है। हाँ, अभिनय की दृष्टि से एक पृष्ठ का यह स्वगत- कथन बहुत बड़ा हो गया है।

शकटार का चित्रण स्थिति में सहयोग देने की दृष्टि से सफल है

और उसके वक्तव्य से नन्द के क्रूर अत्याचारों का स्पष्ट परिचय मिलता है। 'सहायता, दुख, सावधान'—जैसे सहानुभूति-युक्त शब्दों को सुनकर उसके कहे हुए वाक्य भी सुन्दर हैं। हाँ, क्षण-क्षण में गिर-गिर पड़ते शकटार से लंबे-लंबे वाक्य कहलाना आलोचकों को खटक सकता है।

दृश्य के आरम्भ में मालविका का यह स्वगत प्रश्न—'क्या चन्द्रगुप्त के लिए असत्य बोलना होगा ?'—उसके हृदय की ओर संकेत तो करता है, परन्तु दूसरे ही क्षण मंच से उसके चले जाने के कारण पाठक उसको जल्दी ही भूल भी जाता है।

सातवाँ दृश्य—सेनापति मौर्य की स्त्री के प्रति नन्द के व्यवहार से लेखक उसके अत्याचार का एक और दृश्य दिखाना चाहता है। नंद का स्वगत-कथन उनकी मानसिक स्थिति का अच्छा परिचय देता है। 'जारजपुत्र,' 'नीचजन्मा' जैसे अपमानजनक शब्द बार-बार सुनकर मगध के पूर्व सम्राट् महापद्म की हत्या करके सिंहासन पानेवाले नन्द का अत्याचारी हो जाना स्वाभाविक ही है। दृश्य के अन्त में राक्षस का पत्र पाकर वह उत्तेजित हो जाता है; परन्तु पत्र में लिखा क्या है, इसकी सूचना न देकर लेखक ने पाठक की जिज्ञासा बढ़ायी है—'राक्षस और सुवासिनी को चाहे जिस दशा में हों, पकड़ लाओ'—नन्द की यह आज्ञा सुनकर चाणक्य की पूर्वयोजना सफल होते देख उसकी सफलता में पाठक का विश्वास और भी बढ़ जाता है।

नन्द और सुवासिनी के वार्तालाप में—नन्द पूछता है, बोलो, तुमको राक्षस ने भेजा था ? और सुवासिनी उत्तर देती है, राक्षस नहीं, वह मनुष्य था—हास्य की हल्की योजना है।

आठवाँ दृश्य आरम्भ में चन्द्रगुप्त द्वारा फिलिप्स के द्वंद्व-युद्ध में मारे जाने की सूचना मिलती है। यवनों की गति-विधि का परिचय इसी प्रसंग में मिल जाता है। परन्तु पर्व्वतेश्वर तो पहले से ही चाणक्य के साथ है। उसे इन सब बातों को देखने का अवसर कैसे मिला ?

क्या यह चाणक्य की इस आज्ञा का—'तुम मेरे साथ मगध चलो', उल्लंघन कर पीछे ही रह गया था ? यदि पर्व्वतेश्वर को यह सूचना चरों से मिली है तो उसका उल्लेख होना चाहिए था।

मौर्य और शकटार का परिचय उत्तेजित जनता को सफल ढंग से दिया गया है। 'मैं उन सब पीड़ित, आघात-जर्जर, पददलित लोगों का संरक्षक हूँ जो मगध की प्रजा है'—चन्द्रगुप्त का यह क्षत्रियोचित कथन सुन्दर है जिससे जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में उसे पूरी सफलता मिलती है। शकटार की रक्षा का भार स्वयं निःसंकोच लेकर वह उसका प्रिय बन जाता है। आगे का दृश्य देखने के लिए इस समय हमारी उत्सुकता बहुत बढ़ जाती है।

नवाँ दृश्य—तृतीय अंक का अंतिम दृश्य। नन्द की जीवन-लीला की समाप्ति के पश्चात् इसमें चन्द्रगुप्त मगध का सम्राट बनाया जाता है। नन्द के पक्ष की अति निर्बलता के कारण उसे पराजित देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता और मंच पर की गयी उसकी हत्या का भयानक कर्म देखकर यह प्रश्न ही मन में होता है कि अपने साम्राज्य में जो सम्राट् ऐसा निंदित था, वह इतने दिन तक सिंहासन पर रह कैसे सका ? नन्द के बन्दी हो जाने के बाद चाणक्य का आकर उसे अपनी प्रतिज्ञा की याद दिलाना उसकी विवशता को मुँह चिढ़ाना ही है। क्रियाशीलता की दृष्टि से यह दृश्य सफल है, परन्तु आगे के कार्य-क्रम के संबंध में कोई निश्चित संकेत यहाँ न रहने से पाठक को कोई उत्सुकता नहीं रह जाती।

चौथा अंक

पहला दृश्य—पर्व्वतेश्वर के वध और कल्याणी की आत्महत्या की भयानकता से पूर्ण साधारण दृश्य। इतिहास में, सिकंदर से युद्ध के पश्चात्, पौरव का कोई विवरण नहीं मिलता। इसलिए नाटककार उसके चरित्र का विकास अपनी इच्छानसार करने को स्वतंत्र था।

परन्तु इस ग्रंथ में पर्व्वतेश्वर का जो चित्रण मिलता है, वह उस प्रशंसनीय वीर के अनुपयुक्त समझा जायगा। एक बार उसका चरित्र ऊपर उठाकर यदि उसकी मद्यप्रियता और लंपटता दिखाकर नीचे न गिराया गया होता तो क्या हानि थी ? पिता के विरोधी के प्रति अपने प्रणय को बढ़ते देख कठोरता से प्रेम-पीड़ा को पैरों से कुचलनेवाली कल्याणी का संकेतयुक्त चित्रण ऐसा है कि पाठक की सहानुभूति उसके साथ हो जाती है। मंच पर दो-दो हत्याएँ इस दृश्य का एक दोष है और दृश्य के अन्त में केवल एक वाक्य कहकर चाणक्य का अपनी हृदयहीन निष्ठुरता का परिचय देना, दूसरा। चन्द्रगुप्त के दक्षिणापथ जाने की सूचना पाठक की उत्सुकता बढ़ाती है। नन्द का विरोध करनेवाली मगध की प्रजा निष्कलंक कल्याणी की हत्या का क्या अर्थ निकालेगी—यह भी हम जानना चाहते हैं।

कल्याणी के मरने पर चाणक्य का आकर यह कहना—'चन्द्रगुप्त तुम आज निष्कंटक हुए'—उसकी क्रूर निष्ठुरता से युक्त है, इस कथन से यह ध्वनि भी निकलती है कि मंच के पीछे छिपा हुआ चाणक्य जैसे रास्ता देख रहा था कि कब ऊल्याणी मरे और कब मैं चन्द्रगुप्त को उसके निष्कंटक होने की बधाई दूँ।

दूसरा दृश्य—पिता की अनुपस्थिति में सुवासिनी ने नन्द की रंगशाला में प्रवेश किया था, पिता को पुनः पाकर उनकी संरक्षता में रहने को उसका तैयार हो जाना भारत य गार्हस्थ्य धर्म के सर्वथा अनुकूल है। अपनी प्रेमिका सुवासिनी से कहा हुआ राक्षस का यह कथन—'क्या तुम नहीं जानतीं कि मेरे भीतर एक दुष्ट प्रतिभा सदैव सचेष्ट रहती है ? अवसर न दो, उसे न जगाओ'—बड़ा विचित्र है। अब तक हमें उसकी दुष्ट या शुभ, किसी प्रकार की भी प्रतिभा का कोई परिचय नहीं मिला है। हाँ, दृश्य के अंत में सुवासिनी के निश्चय से क्षुब्ध होकर चाणक्य के प्रति उसके आकर्षण की आशंका से 'किसी दूसरे' को सम्राट् बनाने की बात सोचकर, मगध में विद्रोह की आग

फैलाने की बात से अपनी नीचता का परिचय वह अवश्य देता है। अब तक उसने तत्व का कोई काम किया नहीं है; आगे वह क्या करेगा, किसे चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वंद्वी बनायगा, यह सब जानने के लिए हमारी उत्सुकता बढ़ती है।

तीसरा दृश्य—कथा-विकास के लिए सुन्दर दृश्य जिसमें मगध-परिषद में मत-विरोध की सूचना मिलती है। चाणक्य की ओर से सुवासिनी का मन हटाने के लिए राक्षस ने झूठ ही यह कहकर कि चाणक्य ने तुम्हारे पिता का अपमान किया है, चरित्र की क्षुद्रता का हीनतम परिचय दिया है। क्या उसके 'भीतर सदैव सचेष्ट रहनेवाली दुष्ट प्रतिभा' इतना ही काम कर सकती है? नवीन यवनाक्रमण की सूचना, आगे होनेवाले युद्ध और उसके परिणाम के पाठक को चिंतित करती है। परिषद् की इच्छा के विरुद्ध होकर चाणक्य के विजयोत्सव को रोकने का कारण दृश्य के अन्त में मालूम होता है कि पाटलीपुत्र षड्यन्त्रों का केन्द्र हो रहा है। एकान्त में सुवासिनी को पाकर चाणक्य का अपने को वश में न रख सकना, आँखों में उसकी 'दुर्बलता' का नवीन चित्र दिखायी देना, एक कलापूर्ण संकेत है जो सूचित करता है कि निष्ठुर कर्मों में आनन्द लेने की क्रूर प्रतिज्ञा करनेवाला चाणक्य हृदय भी रखता है; वह किसी अलौकिक लोक का जीव नहीं, दुर्बल मानव-समाज का ही एक प्राणी है। इतने वर्ष पश्चात् जिन्हें पाया है, उन्हीं माता-पिता के रुष्ट होकर चले जाने का चन्द्रगुप्त पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह जानने के लिए हम उत्सुक हैं।

चौथा दृश्य—भावपूर्ण सुन्दर दृश्य जिसमें संकेतों द्वारा भयंकर संघर्ष की निरंतरता से ऊबे, 'घने प्रेम-तरु तले' का सुखद-शीतल विश्राम चाहते चन्द्रगुप्त के भावुक हृदय से पाठक को परिचित कराया गया है। अधिकार-सुख और पद के आडम्बरपूर्ण-गौरव-सम्मान से ऊब कर आज वह प्रेममय साथी की मधुर मुस्कान का भूखा है जिसका वह विश्वास कर सके, जिसमें सम्बन्ध की अभिन्नता का सरस

अनुभव कर सके। 'स्मरण आता है मालव का उपवन और उसमें अतिथि-रूप में मेरा रहना ?'—चन्द्रगुप्त के इस वाक्य से मालविका के प्रति उसके आकर्षण की स्मृति का पता लगता है। सरल बालिका मालविका बहुत दिनों में, सजा-सजाकर बनायी सुमनों की एक माला उसे पहना कर ही अपनी चिरसंचित अभिलाषा पूरी करती है। पश्चात्, 'स्मृति और अनुराग को सुलाकर अपने जीवन—चिरदुखी जीवन—का अन्त करने के लिए' वह स्वयं सो जाती है। 'आज घातक इस शयन-गृह में आयँगे'—यह सूचना पाकर मालविका के जीवन के लिए पाठक चिंतित हो जाता है।

पाँचवाँ दृश्य—साधारण दृश्य। अदूरदर्शी शासक की भाँति माता-पिता के जाने का कारण समझने का प्रयत्न न करके चाणक्य से जवाब तलब करना चन्द्रगुप्त के गौरव के अनुकूल नहीं है। इस तरह ब्राह्मणत्व पर गर्व करनेवाले दूरदर्शी और विज्ञ अमात्य चाणक्य का क्षुब्ध हो उठना भी प्रकृति की गम्भीरता का परिचय नहीं देता, कूटनीति की दृष्टि से भले ही सोद्देश्य हो। 'स्वर्गीय कुसुम' मालविका की हत्या की सूचना पाकर चन्द्रगुप्त के साथ पाठक भी एक बार 'आह' करके रह जाता है। नाट्यकला की दृष्टि से यह हत्या कहाँ तक आवश्यक थी, यह विचारणीय है। राक्षस हत्यारों का नेता बना और युद्ध में उनके साथ पकड़ा न जाकर भाग निकला। उसके 'अंतर में सदैव सचेष्ट रहनेवाली दुष्ट प्रतिभा' के दूसरे कार्य की यह सूचना पाठक की उत्सुकता बढ़ाती है। माता-पिता, गुरुदेव, मालविका और सिंहरण, सभी के चले जाने के बाद, षड्यन्त्रों के केन्द्र पाटलीपुत्र में अकेला चन्द्रगुप्त कैसे रहेगा, आगामी यवनाक्रमण का सामना कर सकेगा या नहीं आदि जानने के लिए हम उत्सुक हैं।

छठा दृश्य—नाटक का कदाचित् सबसे बड़ा दृश्य जिसमें कथा की गति-विधि के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम पड़ती हैं। राक्षस अब यवन-सम्राट् सिल्यूकस को कन्या की पढ़ाने के लिए वहीं रहता

है और यह सारा कुचक्र उसी का है'—इस तरह एक नये देशद्रोही की उत्पत्ति आगामी युद्ध का परिणाम अनिश्चित कर देती है, परन्तु आंभीक का इस युद्ध में यवनों का साथ न देकर उनका विरोध करने की तैयार हो जाना भारतीय सफलता के लिए एक कलापूर्ण संकेत है। 'चंद्रगुप्त और यवनबाला के परिणय' का प्रस्ताव चाणक्य को करते देखकर हम यह जानने के लिए उत्सुक होते हैं कि स्वाभिमानी यवन-सम्राट् उसे किस रूप में स्वीकार करेगा।

भावों के उत्थान-पतन और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य सफल कहा जायगा। देश-द्रोह-सम्बन्धी अपने पिछले कार्य से असंतुष्ट आंभीक के सामने अलका को देश में जागृति फैलाते देख, पूर्व नीच कर्म का प्रायश्चित करने के लिए उत्तेजित होकर पहले तो उसका तैयार हो जाना, परन्तु दूसरे ही क्षण राज्य त्यागने की समस्या सामने आने पर पुनः मोह में पड़ जाना, उसके-से चरित्रवाले व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है। सुवासिनी-चाणक्य का कोमलतम संबंध स्वस्थ वासना के मानवीय धरातल को नीचे छोड़कर त्याग और संयम के स्वर्गीय क्षेत्र की ओर बढ़ता है। ब्राह्मणत्व पर गर्व करनेवाला चाणक्य इस प्रकार कर्मक्षेत्र में अपनी शक्तियों का चरम विकास और इंद्रियों का पूर्ण निग्रह करके आर्य दांड्यायन के आश्रम में पहुँचने का पुण्य पथ पा लेता है।

इस दृश्य में कई बातें खटकती भी हैं। आरम्भ इसका सुन्दर ढंग और उचित विषय से नहीं हुआ है। 'बताओ, नया समाचार क्या है ?'—इस प्रश्न का पूरा उत्तर पाकर कात्यायन से एक बार चाणक्य कहता है—'जितना शीघ्र हो सके, मगध पहुँचो,' परन्तु सुवासिनी के सम्बन्ध में बात करते-करते पुनः पूँछ बैठता है—'अच्छा बताओ, काम कहाँ तक हुआ ?' उसके से दूरदर्शी राजनीतिक की यह भूल कैसी ? यदि कात्यायन सुवासिनी के प्रसंग में अपनी शंका न करता और चाणक्य की आज्ञा मानकर

मगध जाता चला तो यह नया प्रश्न करके—'काम कहाँ तक हुआ'—वह किससे मालूम करता ? आंभीक के आते ही चाणक्य उसे याद दिलाता है—'एक दिन मैंने कहा था, सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय,' और जब आंभीक स्वयं अपने पूर्व कर्म के लिए पश्चाताप करता हुआ कर्तव्य-परायणता की शपथ खा रहा है, तब कहता है—'मनुष्य साधारण-धर्मा पशु है'—ये दोनों कथन अवसर के उपयुक्त नहीं प्रतीत होते। सम्राट् की 'मानसिक वेदना' के प्रसंग में सिंहरण और अलका का वार्तालाप व्यर्थ ही है। हाँ, इस सम्बन्ध में चाणक्य का चुप रहना, संभव है, सुन्दर समझा जाय। दृश्य का अंत भी चमत्कारपूर्ण ढंग से नहीं किया गया है।

सातवाँ दृश्य—साधारण दृश्य जिसमें 'देशद्रोही' कहकर राक्षस की हँसी उड़ायी जाने पर भी वह लज्जित नहीं होता। यवन-कुमारी कार्नेलिया का सरल चरित्र इस दृश्य की एक विशेषता कही जा सकती है। 'निर्मल ज्योति का देश, पवित्र भूमि' इत्यादि कहने से इस ग्रीक-बाला का भारत-प्रेम प्रकट होता है। आंभीक और चाणक्य के संबंध में सिल्यूकस अपनी कन्या को रहस्य की जो बातें बतलाता है, वे हमें पहले ही मालूम हो चुकी हैं। कभी पढ़ने और कभी पढ़ना बन्द करने की विरोधी आज्ञाएँ यवन-सम्राट् सिल्यूकस की अस्थिर निश्चयता की ओर संकेत करती हैं। सिल्यूकस की महत्वाकांक्षा यहाँ वीरोचित जान पड़ती है।

आठवाँ दृश्य—चाणक्य और सिंहरण की अनुपस्थिति में चन्द्रगुप्त की मानसिक स्थिति और युद्धनीति का परिचायक छोटा दृश्य। बात बात में उत्तेजित होकर 'युद्ध में मरण से भी अधिक भयानक का आलिंगन करने के लिए' चंद्रगुप्त का प्रस्तुत हो जाना उसके आत्मविश्वास का तो कम, पर मानसिक अधीरता का अधिक परिचय देता है। 'एक क्षण भी विश्राम न करके अश्व की पीठ पर ही समय बिताना' साहसी चन्द्रगुप्त के योग्य कथन है।

नवाँ दृश्य—भावप्रधान सुन्दर दृश्य, यौवन, प्रेम और स्मृति की काव्योपम व्याख्या ने जिसे महत्वपूर्ण बना दिया है। कार्नेलिया के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति स्मृति जगाने के लिए सुवासिनी यवन-शिविर में बन्दी होकर आयी है, पर हम देखते हैं कि कार्नेलिया स्वयं ही चंद्रगुप्त की ओर आकृष्ट है और नहीं चाहती कि यवन-सम्राट् उससे युद्ध करे। 'क्या उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा आप ही ने मृत्यु-मुख से जिसका उद्धार किया था और जिसने आपके प्राणों की रक्षा की थी·····जिसने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी ?'—कार्नेलिया के ये वाक्य इसके प्रमाण हैं। 'कल युद्ध होगा'—विजय की पूरी आशा लिये सिल्यूकस के मुख से ये शब्द सुनकर आगे का समाचार जानने को हम उत्सुक हैं।

दसवाँ दृश्य—युद्ध का अनिश्चित परिणाम-सूचक दृश्य। चाणक्य के समीप रहने से चन्द्रगुप्त की विजय की हमें आशा होती है। चन्द्रगुप्त के 'पराक्रम की अग्नि में घी डालने का काम' चाणक्य ने एक साधारण चर को सौंपा है; किसी साहसी और अनुभवी सेनापति या नायक को सौंपता तो क्या हानि थी ? आंभीक का सिल्यूकस के प्रति यह कथन—'मैं सदा प्रवंचक रहा, परन्तु यह प्रवंचना कुछ महत्व रखती है,' सुन्दर है। 'और समय चाहे मालव न मिलें, पर प्राण देने का महोत्सव-पर्व वे नही छोड़ सकते'—चंद्रगुप्त से कहा गया सिंहरण का वह वाक्य उसकी गर्वोक्तिप्रियता के अनुरूप ही समझा जायगा।

ग्यारहवाँ दृश्य—युद्ध का अन्त। सिल्यूकस की पराजय। चन्द्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के प्रेम का परिचय देना और सिल्यूकस को 'सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देने' की चन्द्रगुप्त की महत्ता से यवन-सम्राट् को चकित करना, संक्षेप में ये ही इस दृश्य के संकेत हैं। 'मेरा कर्तव्य मुझे पुकार रहा है। मैं रणक्षेत्र से भाग नहीं सकता; चन्द्रगुप्त के हाथों से प्राण देने में ही कल्याण है'—सुवासिनी से

कहे गये ये सुन्दर वाक्य अकर्मण्य राक्षस के मुख से निकलने पर अपनी सुन्दरता खो देते हैं। सुवासिनी को लेकर भाग जाना उसकी प्रकृति के अनुकूल है।

बारहवाँ दृश्य—चाणक्य की दूरदर्शिता को सत्य सिद्ध करने वाला दृश्य। भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त को कन्या देने की बात सुनकर एक बार उत्तेजित होकर सिल्यूकस शान्त और सहमत हो जाता है। पिता-पुत्री की भेंट का दृश्य सुन्दर है। खटकनेवाली एक बात इस दृश्य में यह है कि नाटककार यवन-सम्राट् और उनके सहचरों को शिविर में न दिखाकर पथ में क्यों भटका रहा है। सार्वजनिक पथ पर पुत्री कार्नेलिया के हृदय की थाह या प्रेम की परीक्षा लेने के लिए सिल्यूकस का तैयार हो जाना बड़ा अनुचित है। पिछले दृश्य में चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के सामने जो यवन सम्राट् अपनी पराजय स्वीकार चुका है, उसी का इस दृश्य में साइवर्टियस और मेगस्थनीज के सामने 'युद्ध होगा, हम सबको मरना होगा' कहना कुछ जँचा नहीं।

तेरहवाँ दृश्य—पूर्वांतिम दृश्य जिसमें चन्द्रगुप्त-पक्ष का 'सब विवाद मिट जाता है।' मौर्य सेनापति को चाणक्य को, मारने काअसफल प्रयत्न करने पर क्षमा कर दिया जाता है और राक्षस भी इस ब्राह्मण की महत्ता स्वीकारता है। गुरुवर का वध करने को प्रयत्नशील पिता के दंड की व्यवस्था करनेवाले चन्द्रगुप्त में चाणक्य की तरह सब विश्वस्त होते हैं कि वह अपना कर्तव्य कर लेगा। 'चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है। बतलाइए, पूरा विवरण सुनना चाहता हूँ और पिता जी, आप शास्त्र रख दीजिए'—चन्द्रगुप्त का यह कथन उसकी प्रकृति की उत्तेजना-भर सिद्ध करता है, शासकोचित गंभीरता नहीं। यदि यह कथन निकाल दिया जाय तो विशेष हानि नहीं होगी। दृश्य के अन्त में 'आर्य, आप उस समय उपस्थित होंगे ?'—चन्द्रगुप्त के इस प्रश्न के उत्तर में चाणक्य का उत्तर—'देखा जायगा'

कुछ महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ता। यह प्रश्नोत्तर भी न रहता तो क्या हानि थी ?

चौदहवाँ दृश्य—नाटक का अन्तिम, परन्तु साधारण दृश्य जिसमें चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की सन्धि हो जाती है और चाणक्य के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर यवन सेनापति भारत-सम्राट् को अपनी कन्या सौंपता है। आरम्भ इस दृश्य का सुन्दर नहीं हुआ है। 'आज मैं विजेता नहीं, मैं सन्धि और सहायता के लिए आया हूँ'—सिल्यूकस के इस कथन के उत्तर में चन्द्रगुप्त का कहना—'कुछ चिंता नहीं सम्राट्' बिलकुल लचर और तिरस्कारपूर्ण है। फिर भी दृश्य का अंतिमाश भारतीय गौरव का बढ़ानेवाला है।

———

'चन्द्रगुप्त' का ऐतिहासिक आधार

प्रसाद जी के समस्त ऐतिहासिक नाटकों में कदाचित् 'चंन्द्रगुप्त' ही ऐसा है जिसके प्रायः सभी प्रमुख पुरुष पात्रों के नाम इतिहास में मिलते हैं। भारतीय पात्रों में नन्द, राक्षस, वररुचि, शकटार, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, आंभीक और पर्व्वतेश्वर तथा यवनों में सिकंदर, सिल्यूकस, फिलिप्स, मेगस्थनीज, सभी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। स्त्री-पात्रों में नंद और सिल्यूकस की एक-एक कन्या की चर्चा भी इतिहासों में मिलती है। प्रसाद जी ने इन्हें क्रमशः कल्याणी और कार्नेलिया नाम दिये हैं। इसी प्रकार इस नाटक की प्रमुख घटनाएँ भी इतिहास-सम्मत ही हैं।

प्रस्तुत नाटक की कथा के लिए 'प्रसाद' जी ने प्रायः वे ही घटनाएँ चुनी हैं जो या तो ऐतिहासिक सत्य के रूप में प्रचलित हैं या जिनके विषय में इतिहासकारों में मत-भेद है और 'प्रसाद' जी ने अपनी सम्मति देना आवश्यक समझा है। इतिहास-सिद्ध इन सब आधारों और विवादग्रस्त विषयों की चर्चा प्रसाद जी ने 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में की है। इनमें से कुछ यहाँ संकलित हैं —

१—ईसा से आठ सौ वर्ष पहले भारत में एक धार्मिक क्रांति हुई जिसमें, जिन जातियों को अपने कुल की क्रमागत-वंश-मर्यादा भूल गयी थी, वे तपस्वी और पवित्र ब्राह्मणों के (अर्बुदगिरि वाले महान्) यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभाजित हुईं। इनका नाम अग्निकुल हुआ। + + + धीरे-धीरे भारत के श्रेष्ठ राजन्यवर्ग

में इनकी गणना होने लगी। यद्यपि इस कुल की भिन्न-भिन्न पैंतालीस शाखाएँ हैं; पर सबसे प्रधान और लोक-विश्रुत मौर्य नाम की शाखा है। + + + मोरियों का नगर पिप्पलीकानन था और वहाँ के मौर्य-नृपति भी बुद्ध की शरीर-भस्म लेनेवालों में एक थे—पृ० ३।

२—हिन्दू नाटककार विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त को प्रायः 'वृषल' कहकर संबोधित कराया है, इससे तत्कालीन हिंदू-काल की मनोवृत्ति ही ध्वनित होती है। वस्तुतः 'वृषल' शब्द से तो उनका क्षत्रियत्व और भी प्रमाणित होता है। .....जो क्षत्रिय लोग वैदिक क्रियाओं से उदासीन हो जाते थे, वे धार्मिक दृष्टि से वृषलत्व को प्राप्त होते थे। वस्तुतः वे जाति के क्षत्रिय थे—पृ. १०।

३—इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है—यह अधिक संभव है कि नंदों और मौर्यों का कोई रक्त-संबंध न था - पृ. ११।

४—मैक्समुलर भी लिखते हैं—मौर्य की उत्पत्ति मुरा से हुई, यह कथन भी प्रमाणित नहीं किया जा सका—पृ. ११।

५—अर्द्धकथा, स्थविरावली, कथा-सरित्सागर और ढुंढि कहते हैं कि जब नंद बहुत विलासी हुआ तो उसकी क्रूरता और भी बढ़ गयी—प्राचीन मंत्री शकटार को बन्दी करके वररुचि नामक ब्राह्मण को उसने अपना मंत्री बनाया। .....शकटार जब बंदी हुआ तब वररुचि ने उसे छुड़ाया और एक दिन यही दशा मंत्री वररुचि की भी हुई। इनका नाम कात्यायन भी था..... पाणिनि के सूत्रों के यही वार्त्तिककार कात्यायन हैं—पृ. १८।

६—जस्टिनस ने लिखा है—चंद्रगुप्त के व्यवहार से रुष्ट होकर नन्द ने उसे बंदी बनाने की आज्ञा दी जिससे उसे प्राण बचाने के लिए भागना पड़ा—पृ०. २१।

७—ग्रीक इतिहास-लेखक भी सहमत हैं कि चन्द्रगुप्त को राज-क्रोध के कारण पाटलीपुत्र छोड़ना पड़ा—पृ. २२।

८—कूटनीति-चतुर सिकंदर ने, जैसा कि ग्रीक-ग्रंथाकार कहते हैं,

१००० टेलेंट (प्रायः अड़तीस लाख रुपया) देकर लोलुप देश-द्रोही तक्षशिलाधीश को अपना मित्र बनाया—पृ. २३ ।

९—ग्रीक-ग्रंथकारों के द्वारा यह पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने एक सप्ताह भी अपने को परमुखापेक्षी नहीं बना रखा और वह क्रुद्ध होकर वहाँ से (यवन-शिविर से) चला आया—पृ० २३ ।

१०—जस्टिनस लिखता है—चन्द्रगुप्त ने अपनी असहनशीलता के कारण सिकन्दर को असंतुष्ट किया । वह सिकन्दर का पूरा विरोधी बन गया । सिकन्दर ने उसके वध की आज्ञा दी, पर चन्द्रगुप्त भाग गया—पृ० २४ ।

११—पुरु के युद्ध से जगद्विजयी सिकन्दर को कहना पड़ा—'आज हमको बराबरी का भीम पराक्रमी शत्रु मिला और यूनानियों को तुल्य बल से आज युद्ध करना पड़ा ।' इतना ही नहीं, सिकन्दर का प्रसिद्ध अश्व 'बूका फेलस' इसी युद्ध में हत हुआ और सिकन्दर स्वयं घायल हुआ—पृ० २४ ।

१२—जस्टिनस कहता है—चन्द्रगुप्त ने यवनों के पीठ फेरते ही उनके भारतीय प्रदेशवासियों को स्वतंत्र कर दिया और कुछ समय पश्चात् जिन्हें स्वतंत्रता प्रदान की थी, उन्हें अपने अधीन कर लिया, पृ०—२७, फुटनोट ।

१३—इतिहासों से पता चलता है कि सिल्यूकस से चंद्रगुप्त का युद्ध सिन्धु-तट पर हुआ—पृ० ३४ ।

१४—बौद्ध-धर्म और पुराणों की कथाओं का अनुमान करने से जाना जाता है कि चाणक्य ही चंद्रगुप्त की उन्नति के मूल है—पृ० ४८ ।

१५—जहाँ तक ज्ञात होता है चाणक्य वेद-धर्मावलंबी कूटराजनीतिज्ञ, प्रखर प्रतिभावान और हठी थे—प० ५० ।

इन तथा अन्यान्य ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर 'प्रसाद' जी ने प्रस्तुत नाटक की रचना की है और जिन स्थलों पर प्राचीन जनश्रुतियों या धार्मिक उल्लेखों से उनका मतभेद है उनकी विवेचना

करना भी वे नहीं भूले है। इन उल्लेखों के आधार पर चंद्रगुप्त मौर्य का जो वृत्त इतिहास में मिलता है, वह इस प्रकार है—

ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व मेरिया जाति के क्षत्रियों का एक छोटा सा प्रजातंत्र राज्य वर्तमान गोरखपुर के पूर्वोत्तर में था। लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् शक्ति बढ़ने पर मगध ने उसे अपने अधिकार में कर लिया। चन्द्रगुप्त मौर्य यहीं के किसी सरदार का, जो संभवतः अपनी वीरता के कारण मगध का सेनापति नियुक्ति किया गया था, पुत्र था। किशोरावस्था से ही चन्द्रगुप्त स्वतंत्र राज्य-स्थापन के स्वप्न देखने लगा। इस समय तक उसका परिचय मगध के शासक नंद और उसके परिवार से हो चुका था और मगध की राजकुमारी उससे प्रेम भी करने लगी थी। शीघ्र ही चन्द्रगुप्त को, किसी शुभ चिन्तक के सुप्रयत्न से, यथोचित शिक्षाप्राप्ति के लिए, अथवा अपने उक्त प्रयत्न में साधनहीनता के कारण असफल होने पर, पंचनद-प्रदेश जाना पड़ा। यहाँ उसने तक्षशिला विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की।

पंजाब में उस समय अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे। प्रत्येक का शासक वीरता और स्वाभिमान में दूसरे से बढ़कर था; परन्तु आपस में एकता न थी। नित्य ही पारस्परिक युद्ध उनकी शक्ति क्षीण किया करते थे। अवसर देख कर यूनानी सम्राट् सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। गांधार-नरेश आंभीक ने, विभीषण बनकर, उसे घर के भेद बताये और बदले में सिकन्दर ने उसे झेलम और सिन्धु के बीच की भूमि का शासक (क्षत्रप) बना दिया। आगे चल कर पौरव पर्व्वतेश्वर ने सिकन्दर का सामना किया। यह भारतीय नरेश घर की फूट के कारण यद्यपि पराजित हुआ, तथापि इसकी वीरता, धीरता और साहस का सिकन्दर पर बड़ा प्रभाव पड़ा। ऐसे वीर से मित्रता करने में उसने गौरव समझा और पौरव को उसने व्यास और झेलन के मध्यवर्ती प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त कर दिया।

चन्द्रगुप्त इस आक्रमण के समय पंजाब में ही था। विष्णुगुप्त

नामक ब्राम्हण से, कल्पित नामधारी चणक का पुत्र होने के कारण जो आगे चलकर चाणक्य के नाम से विख्यात हुआ, चन्द्रगुप्त की संभवतः तक्षशिला-विश्वविद्यालय में भेंट हुई, यद्यपि निवासी यह भी मगध का ही था। दोनों ने मिलकर विदेशी विजेता को पराजित करने के उद्देश्य से, भारतीयता और एकता की भावना का प्रचार करके, छोटे-छोटे राज्यों को संगठित करना चाहा। अनेक बाधाएँ इस मार्ग में आयीं; परन्तु अन्त में सतत प्रयत्न के कारण, इन्हें सफलता मिली।

मगध का शासन इस समय तक बहुत बिगड़ गया था। सिकन्दर अपने प्रयत्न में सफल न हो जाय, इस आशंका से चाणक्य को मगध-दरबार में जाना पड़ा, जहाँ उसका अपमान ही हुआ। विदेशियों से छुट्टी पाकर मगध का शासन सुधारने की ओर चाणक्य ने ध्यान दिया। अपनी कुटिल नीति से, जिसके कारण उसका नाम कौटिल्य पड़ गया, उसे इसमें सफलता मिली। नंद के स्थान पर चंद्रगुप्त शासक बन गया और समस्त उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति उसने सुदृढ़ कर ली।

उधर सिकन्दर का देहांत हो जाने पर उसके सेनापति सिल्यूकस ने भारत-विजय की इच्छा से पश्चिमोत्तर प्रदेश पर आक्रमण किया। प्रथम यवन-युद्ध को इस समय तक बीस-बाइस वर्ष बीत चुके थे। भारत की राजनीतिक स्थिति में इतने समय में बहुत परिवर्तन हो गया था। अतः सिल्यूकस को, पूर्व की भाँति छोटे-छोटे क्षत्रपों से नहीं, चक्रवर्ती सम्राट् चन्द्रगुप्त से लोहा लेना पड़ा। यवन-सेना इस युद्ध में बुरी तरह पराजित हुई और विजित प्रदेशों के साथ उसे अपनी कन्या भी भारत-सम्राट् को सौंपनी पड़ी। पश्चात्, दोनों देशों में संधि हो गयी।

—:o:—

प्रधान कार्य और उसका विकास

मुसलमानों के पैर भारत में ईसा की बारहवीं शताब्दी के पश्चात् जम सके। इसके पूर्व लगभग पाँच हजार वर्ष तक भारतीय स्वतंत्रता की कीर्ति बराबर उज्ज्वल बनी रही। बस, उस पर एक बहुत हल्का धब्बा है ग्रीकों की पंचनद-प्रदेशीय विजय का, पाश्चात्य इतिहासकारों ने अपने पक्षपात से भारत पर बहुत पुरानी योरोपीय जीत सिद्ध करने के उद्देश्य से, जिसका सविस्तार और सांगोपांग वर्णन अपने ग्रंथों में किया है। उनके कथन का सारांश यह है कि यूनानी सेना का सामना भारतीय वीर किसी तरह न कर सके, अनेक बार उनसे ये पराजित हुए। विश्व-विजेता सिकन्दर का विचार इस विजय से उत्साहित होकर, समस्त भारत को पददलित करने का था, परन्तु अन्त में अपने अति विस्तृत साम्राज्य में किसी आंतरिक विद्रोह की सूचना पाकर उसने यह विचार स्थगित कर दिया और स्थल-पथ से अपनी सेना भेजकर स्वयं जल-मार्ग से लौट गया।

परन्तु इधर की ऐतिहासिक खोज से पता लगता है कि विदेशी इतिहासकारों का यह कथन नितांत पक्षपातपूर्ण और कल्पनाधारित ही है; तथा सिकन्दर द्वारा भारत-विजय को स्थगित करने और इस प्रकार उसका विश्व-विजय का लुभावना स्वप्न भंग होने, का मूल कारण यह था कि उसकी सेना पर भारतीय वीरता का आतंक बैठ गया था। यह बात पाश्चात्य इतिहासकारों ने भी स्वीकारी है कि पौरव पर्व्वतेश्वर की सेना ने यूनानियों का जिस वीरता से सामना

किया था वह सिकन्दर को भी अभूतपूर्व और अति उन्नत जान पड़ी थी तथा इसीलिए उसने पौरव वीर से संधि करना उचित समझा था। इस युद्ध में दाँत खट्टे हो जाने पर विजयी यूनानी सेना का साहस टूट गया। इसी समय उसे मगध की उस लक्षाधिक सेना ने संगठित होने की सूचना मिली जो पौरव सेना से अधिक कुशल और शक्ति-शालिनी थी। सिकंदर ने इसका सामना करने के लिए अपनी सेना को सभी तरह से बार-बार समझाया; परन्तु आगे बढ़ने के लिए वह किसी तैयार न हुई। ऐसी स्थिति में, बहुत संभव है, हार खाने की आशंका से, जीवन भर विश्व-विजेता कहलाने के पश्चात् भारत में पराजित होने के कलंक से बचने के लिए, विवश होकर सिकन्दर ने रावी तट तक आकर लौट जाना ही उचित समझा हो।

प्रस्तुत नाटक की रचना यही दूसरी बात सामने रखकर की गयी है। नाटककार इसमें सिद्ध करना चाहता है कि भारत में रावी तट तक सिकन्दर के बढ़ आने का कारण था पंचनद-प्रदेश का उस समय छोटे-छोटे राज्यों में बँटा होना जिनमें पारस्परिक संगठन का अभाव था। परन्तु पौरव पर्व्वतेश्वर की पराजय से चिंतित होकर, स्वदेश की स्वतंत्रता को संकट में जानकर, अनेक भारतीय युवक सचेत हुए और उन छोटी-छोटी शक्तियों को उन्होंने इस तरह संगठित किया कि यवन-सेना को लौटते समय पग-पग पर बाधाओं और विरोधों का सामना करना पड़ा; अनेक प्रकार की क्षति उठानी पड़ी। स्वयं सिकन्दर ऐसे ही एक युद्ध में घायल हुआ और कुछ इतिहासकारों का मत है कि इसी घाव के कारण बैबिलोनिया में उसकी मृत्यु हो गयी।

लगभग बीस वर्ष पश्चात् नये यूनानी सम्राट् सिल्यूकस ने अपने पूर्वाधिकारी के अधूरे कार्य को पूर्ण करने का पुनः साहस किया। भारत की स्थिति इस समय तक बदल चुकी थी और छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर मगध के चक्रवर्ती सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य का सुशासन था। सिल्यूकस इस परिवर्तन से पूर्णतः अवगत था और इसलिए उसके

साहस की हमें प्रशंसा करनी चाहिए। दो-चार छोटे-मोटे स्थानों को जीतने के बाद यूनानियों का सामना मगध की चतुरंगिणी सेना से हुआ। सिल्यूकस की वीर सेना ने शक्ति भर प्रयत्न किया; परन्तु भारतीयों के सामने उसके पैर उखड़ गये और चाणक्य की कूटनीतियुक्त दूरदर्शिता ने उन्हें भागने का रास्ता भी न दिया। अंत में सिल्यूकस को संधि करनी पड़ी और विजित प्रदेशों के साथ अपनी कन्या भी चंद्रगुप्त को सौंपने में उसने गौरव समझा।

सारांश यह कि दो बार यूनानियों को भारत में आगे बढ़ने से रोकना और पश्चात्, अपने देश से उन्हें निकाल कर स्वतंत्र भारत की कीर्ति की उज्ज्वलता बनाये रखना, इस नाटक का महत्वपूर्ण कार्य है, चंद्रगुप्त और चाणक्य जिसकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं तथा लेखक ने जिसके संबंध में ग्रंथ के प्रथम दृश्य में ही संकेत कर दिया है।

कार्य की अवस्थाएँ—

पाँच अंक के नाटक में विकसित होनेवाली कथा के पाँच अंग—आरम्भ, विकास, चरम सीमा, उतार और समाप्ति—स्पष्ट रहते हैं। प्रस्तुत नाटक चार अंक का है जिनमें दृश्यों की संख्या क्रमशः ग्यारह, दस, नौ और चौदह है। शास्त्रीय दृष्टि आगे के अंकों की संख्या घटती जानी चाहिए। 'चंद्रगुप्त' के प्रथम तीन अंकों में इस नियम का पालन किया गया है। चौथे अंक के सबसे बड़े होने का कारण यह है कि आरंभ में लेखक ने दो अंकों में इसे विभाजित करना चाहा था; परन्तु नाटक के आदि से ही कथा का विकास इस ढंग से हुआ कि केवल चार अंकों में ही उसका विभाजन हो सका। इन चारों में यवनों के दो आक्रमणों का वर्णन है—प्रथम यवन-सेना को भारतीय वीर आगे बढ़ने का विचार छोड़कर लौटने पर विवश करते हैं और दूसरी को पराजित करके संधि करने पर। दोनों आक्रमणों

के अवकाश का समय मगध-शासन में आमूल परिवर्तन करने मे लगता है। इस तरह नाटक की दो कथाएँ हो जाती है। एक, सिकन्दर का भारतागमन जिसका 'आरभ' यवन-आक्रमण से प्रथम अक मे होता है। इस कथा का 'विकास' अर्थात् यवनो का झेलम तट तक का प्रदेश जीत कर आगे बढना, 'सीमा' अर्थात् पौरव पर्व्वतेश्वर को पराजित करके अपनी शक्ति का परिचय देना, और 'उतार' अर्थात् भयभीत यवन-सेना को स्वदेश लौटने के लिए विवश करना द्वितीय अक के विषय हैं। इस प्रथम कथा की 'समाप्ति' तृतीय अक मे है, क्योकि इसी मे सिकन्दर के भारत से जाने की बाकी कहानी है। इस अक का शेषाश मगध-शासन-परिवर्तन द्वारा चद्रगुप्त को साधन-सपन्न बनाने से सबध रखता है जिसे द्वितीय यवनाक्रमण की 'प्रस्तावना' कह सकते है। कारण यह है कि मगध का सिंहासन पाने के पश्चात् ही यवनो की भारत-विजय के द्वितीय प्रयत्न को विफल करने मे वह सफल हो सका।

चतुर्थ अक मे दूसरे यवनाक्रमण की पूरी कहानी है, कथा-विकास के पाँच अग एक ही अक मे दिखाये गये हैं और इसी से दृश्यो की सख्या बढकर चौदह हो गयी है। सम्मिलित रूप से इस नाटक की सारी कथा का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

आरंभ—

सिकन्दर का भारतागमन। पर्व्वतेश्वर से अपने 'बद्धमूल बैर का प्रतिशोध' लेने के लिए गाधारराज आभीक उसका स्वागत करता है। फलस्वरूप यूनानी सेवा की शक्ति बढ गयी और उसका कार्य सरल हो गया। सिकन्दर का विरोध करने के लिए चद्रगुप्त और चाणक्य तैयार हुए। वे सर्वथा साधन-हीन हैं, परन्तु दाड्यायन की भविष्यवाणी सुनकर यवन-सम्राट् अपनी सफलता के सबध मे चिंतित हो जाता है और पाठक के मन में उत्सुकतामय आशा का उदय होता है।

विकास और सीमा—

द्वितीय अंक में सिकन्दर की यूनानी सेना झेलम तक पहुँच जाती है। पर्व्वतेश्वर उसका विरोध करता, पर पराजित होता है। इस भारतीय नरेश के साहस से प्रभावित होकर सिकन्दर ने उसके साथ नरपति-सा व्यवहार किया; स्वयं मैत्री का प्रस्ताव करके उससे संधि कर ली। यूनानी विजय की यह चरम सीमा है। इस युद्ध में सिकन्दर की सेना शिथिल हो जाती है। अवसर पाकर चंद्रगुप्त, 'पंचनद के सैनिकों से भी दुर्द्धर्ष कई लक्ष मगध के रणकुशल योद्धा शतद्रु-तट पर तुम लोगों की प्रतिक्षा कर रहे हैं और नंद के पास कई लाख सेना है' आदि बातों का प्रचार यूनानियों में करता है। परिणाम यह हुआ कि उन लोगों में आतंक छा गया; एक प्रकार का विद्रोह फैल गया और सम्राट् के बार-बार उत्साहित करने पर भी यूनानी-सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। विवश होकर सिकन्दर को लौटना पड़ा। सेना का कुछ भाग उसने थल-पथ से वापस कर दिया और शेष के साथ वह स्वयं जल-मार्ग से लौटा जिसका उद्देश्य यह था कि लौटते समय तो कुछ प्रदेश जीत ही लिया जाय। इस उद्देश्य में भी उसे सफलता न मिल सकी। चंद्रगुप्त और चाणक्य के प्रयत्न से क्षुद्रक और मालव जातियों में संधि हो गयी; चन्द्रगुप्त उनकी सम्मिलित सेना का नायक बनाया गया और मगध से आये गुल्म भी उसी के अधीन रहे। इस भारतीय सेना ने यवनों का पथ-पथ पर विरोध किया और बहुत क्षति पहुँचायी। इस प्रकार प्रथम यवन-आक्रमण विफल हुआ।

उतार—

तृतीय अंक में नौ दृश्य हैं। पहले दो में भारतीयों के वीर कार्यों की चर्चा है और तीसरे में हँसता हुआ सिकन्दर नौका पर स्वदेश की

ओर चल देता है । प्रथम यवनाक्रमण से इस प्रकार छुट्टी पाकर चाणक्य ने मगध के क्रूर शासन का अन्त करने और इस प्रकार चन्द्रगुप्त को भविष्य के लिए साधन-सम्पन्न बनाने की ओर ध्यान दिया । सिकन्दर को पराजित करने के लिए पहली बार मालवों और क्षुद्रकों की सहायता चन्द्रगुप्त को माँगनी पड़ी थी । अब वह स्वयं शक्तिशाली है और यह आशा की जाती है कि यवनों के पुनः आक्रमण को विफल बनाने में इस बार वह सरलता से सफल हो सकेगा । इस तरह मगध-शासन-परिवर्तन-सम्बन्धी यह घटना अन्तिम यवनाक्रमण को विफल बनाने के लिए बिखरी हुई भारतीय शक्ति को संगठित करने का महत्वपूर्ण प्रयत्न है जिससे आगामी संघर्ष में भारत के वीरों की विजय निश्चित हो जाती है ।

समाप्ति—

यवनों के नये सम्राट् सिल्यूकस का भयानक आक्रमण । अब वह अपनी 'पश्चिमी राजनीति से स्वतन्त्र हो गया है और सिकन्दर के पूर्वी प्रांतों की ओर दत्तचित्त है' । स्पष्ट है कि इस बार यवनों का सेनापति अधिक निश्चित है और अंतिम संघर्ष के लिए तैयार है । भारतीय वीर उसका सामना करने के लिए बढ़ते हैं । घोर युद्ध में यवन-सेना पराजित होती है और चाणक्य की चाल से समस्त ग्रीक-शिविर बन्दी हो जाता है । मालव और तक्षशिला की सेना को हिरात के पथ पर खड़ी करके 'यवनों का लौटना भी उसने असम्भव कर दिया है' । अंत में संधि होती है । 'आर्यावर्त्त की नैसर्गिक सीमा तक का प्रदेश' और साथ में अपनी कन्या देने के लिए सिल्यूकस को तैयार होना पड़ता है । विश्व-विजेता यवनों के दो प्रयत्नों को इस प्रकार विफल करके, भारतीय वीरता का गौरवपूर्ण प्रदर्शन करने के पश्चात्, नाटक की सुखद समाप्ति होती है ।

सामयिक स्थिति का चित्रण

तत्कालीन राजनीतिक स्थिति—ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व की स्थिति का इस नाटक में चित्रण है। देश में तब राजतंत्र और गणतंत्र, दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियाँ थीं। वीरता का उस समय अभाव नहीं था; परंतु सामूहिक समस्याओं की उपेक्षा करके व्यक्तिगत वैमनस्य में राजा-प्रजा, दोनों फँसे थे और निजी मान-सम्मान का झगड़ा निबटाने के लिए विपक्षियों का विनाश विदेशियों द्वारा होते देखना चाहते थे। पंचनद-नरेश पर्व्वतेश्वर से विरोध के कारण क्षुद्र-हृदय आंभीक यवनों का स्वागत करता है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में तत्कालीन स्थिति के संबंध में इस प्रकार संकेत किया गया है—'आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है; उत्तरापथ के खंड राज्य द्वेष से जर्जर हैं..... दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य-जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है'। इसी अंक के पाँचवें दृश्य में चाणक्य सारी स्थिति समझाने का पुनः प्रयत्न करता है -- 'यवनों की विकट वाहिनी निषध पर्वतमाला तक पहुँच गयी है। तक्षशिलाधीश की भी उसमें अभिसंधि है। सम्भवतः समस्त आर्यावर्त्त पादाक्रांत होगा। उत्तरापथ में बहुत से छोटे-छोटे गणतंत्र हैं, वे उस सम्मिलित परसीक यवन-बल को रोकने में असमर्थ होंगे'। चंद्रगुप्त भी इसी

कथन का समर्थन करता है। यही नहीं, एकराष्ट्र की भावना पर प्रांतीयता-प्रेम ने विजय प्राप्त कर ली थी और इसलिए वीरता तथा शक्ति में श्रेष्ठता का निबटारा करने के लिए चंद्रगुप्त चाणक्य से कहता है—'हम मागध हैं और यह (सिंहरण) मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम दोनों शक्ति की परीक्षा भी देते'। यह प्रांतीयता-प्रेम चंद्रगुप्त में ही नहीं, गांधार-राजकुमारी अलका में भी है। 'तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन अमूल्य है'—अपने इस कथन के उत्तर में सिंहरण के मुँह से यह सुनकर—'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है; यही क्या समग्र आर्यावर्त्त है'—अलका आश्चर्य से पूछ बैठती है—'क्या कहते हो'! इस विस्मय-बोधक वाक्य से स्पष्ट है कि यह संकुचित और हानिकारिणी भावना उस समय सारे उत्तरी भारत में फैल रही थी। सम्भवतः इसका कारण था बहुत से छोटे-छोटे राज्यों में देश का विभाजित होना। दूसरे शब्दों में, एक सर्वमान्य और सर्वशक्तिशाली सम्राट् के अभाव में देश की राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न होकर प्रांतीयता में बँट गयी थी और आगे चलकर यही शक्ति-विभाजन पंजाब में सिकन्दर की विजय का कारण हुआ। देश की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से इस प्रकार पाठक को परिचित करा देना आवश्यक था और इसलिए 'प्रसाद' जी का यह प्रयत्न प्रशंसनीय समझना चाहिए।

राजतंत्र और प्रजातंत्र शासन-पद्धति में प्रजा की स्थिति कैसी थी इसका अंतर भी नाटककार ने दो-एक स्थलों पर समझाया है। प्रथम अंक के चौथे दृश्य में तक्षशिला से लौटा हुआ एक ब्रह्मचारी स्नातक स्थिति की आलोचना करता हुआ कहता है—'गणतंत्रों में सब प्रजा वन्य वीरुध के समान स्वच्छंद फल-फूल रही है। इधर उन्मत्त मगध साम्राज्य की कल्पना में निमग्न है'। इस आलोचना में जिस मगध की आलोचना है, वह उस समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था। संभव है, सिद्धांतविहीन और विलासी नंद के शासन में प्रजा की

स्थिति गणतंत्रो की तुलना में कितनी गिर गई थी, उक्त कथन का उद्देश्य यही सूचित करना रहा हो, परतु गणतंत्रीय शासन में प्रजा के अधिकारो की रक्षा राजतंत्रीय शासन से अधिक थी, उसकी सम्मति का मान भी अधिक था, इसकी पुष्टि भी मालव-गणतंत्र के अधिवेशन से हो जाती है।

राजनीति और विद्यार्थी—सिंहरण और चद्रगुप्त यद्यपि नये स्नातक है, तथापि देश की स्थिति से वे अपरिचित नही प्रतीत होते। इससे प्रसाद जी का यह सकेत जान पड़ता है कि प्राचीन विश्वविद्यालयो मे केवल पाठ्य-पुस्तको की ही पढ़ाई नही होती थी, राजनीति की सामयिक समास्याएँ भी विद्यार्थियो के अध्ययन का प्रिय विषय थी और इसके लिए राजनीति और अर्थशास्त्र के शिक्षक उन्हे सदा उत्साहित करते थे।

शासन-नीति—महापद्म के जारज पुत्र नद और चद्रगुप्त, दो सम्राटो के शासन-काल की कथा इस नाटक मे है। दोनो के सबध म नाटककार ने कुछ तथ्यपूर्ण सकेत किये है जिनसे दोनो का अतर तो स्पष्ट होता ही है, यह भी पता चलता है कि प्रथम का अधिकार छिनते समय जरा भी रक्त-पात न होने का प्रमुख कारण क्या था।

प्रथम अक के दूसरे दृश्य में नद के स्वभाव के सबध मे लेखक ने स्पष्ट सकेत किये है। भरे समाज मे वह स्वय स्वीकार करता है—'मै ब्रह्मास्त्र से भी अधिक इन सुन्दरियो के कुटिल कटाक्षो से डरता हूँ। × × ×। नागरिको पर तो मै राज्य करता हूँ, परतु मेरी मगध की नागरिकाओ का शासन मेरे ऊपर है'। पश्चात् चौथे दृश्य मे पता चलता है कि अनाथ ब्राह्मण-कन्या सुवासिनी को उसने अपनी 'विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण बना लिया है'। शासक की यह विलास-लिप्सा नागरिको को भी पथ-भ्रष्ट कर दे और नद उन्ही का

पक्ष लेकर उन्हें ही सारे अधिकार सौंप दे तो कोई आश्चर्य नहीं। यही होता भी है और इसी दृश्य में एक ब्रह्मचारी इसी नीति की आलोचना करता हुआ कहता है—'मगध को उन्माद हो गया है। वह जनसाधारण के अधिकार अत्याचारियों के हाथ में देकर विलासिता का स्वप्न देख रहा है'।

इसी चौथे दृश्य में नंद की शासन-नीति के दूसरे पक्ष पर उनकी पुत्री कल्याणी प्रकाश डालती है। अपनी सखी से वह कहती है—'महाराज के उद्यान में भी लताएँ ऐसी हरी-भरी नहीं, जैसे राज आतंक से वे भी डरी हुई हों। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता, डरते भले ही हों। × × × मुझे इसका बड़ा दुख है। देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है। प्रचंड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है'। और राजकुमारी के इन वचनों से प्रेरित और आश्वस्त होकर नीला भी स्वीकारती है—'सखी, मुझ भी पर उनका कन्या सा ही स्नेह है; परंतु मुझे (भी उनसे) डर लगता है'। नंद की धर्म-नीति के संबंध में इसी दृश्य में दो ब्रह्मचारियों का वार्तालाप होता है। एक उत्तरापथ के गणतंत्रों के शासन की प्रशंसा करता है तो दूसरा कहता है—'वह सिद्धांत-विहीन नृशंस (नंद) कभी बौद्धों का पक्षपाती और कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर, दोनों में भेदनीति चलाकर, बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है'। इस आलोचना से स्पष्ट होता है कि नंद की आस्था किसी धर्म पर नहीं है; प्रत्युत वह प्रजा के धार्मिक अंध-विश्वास से, कुशल शासक की तरह, लाभ उठाता है। निश्चित है कि ऐसी कूट-नीति बहुत समय तक नहीं चल सकती। अंततः नंद का पतन होता है और यह पतन भी कितना करुण है कि मगध का जो साम्राज्य उत्तरी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली था, उसी की राजसभा में, बिना किसी रक्त-पात के, सबके सामने उसकी हत्या कर दी जाती है और कोई उँगली भी नहीं उठाता।

राष्ट्रीयता की भावना—नाटक की कथा के लिए प्रसाद जी ने भारतीय इतिहास का वह भाग चुना है जब देश पर विदेशियों के आक्रमण होना आरंभ हुए थे और भारत की सम्मिलित शक्ति छिन्न-भिन्न होने के कारण शत्रुओं का सामना करने में असमर्थ थी। एक ओर ये आक्रमणकारी नित्यप्रति बढ़ते हुए अपने बाहुबल, बुद्धिबल और अर्थबल के बल पर उन्मत्त हो रहे थे और दूसरी ओर भारत आंतरिक विद्रोह, पारस्परिक कलह और हीन स्वार्थवृत्ति के कारण सशक्त होते हुए भी पराजित हो रहा था। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार प्रायः दो रूपो में किया जाता है—एक, जातीय अभिमान और गर्व-गौरव की महत्ता, स्वातंत्र्य की पुण्य भावना और पूर्वपुरुषों की बीरता के ओजमय गीत गाकर और दूसरे, संगठन के महत्व तथा तज्जनित सुखशांति की ओर उनका ध्यान आकर्षित करके। प्रसाद जी के नाटकों में, मुख्यतः 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' में, राष्ट्रीयता के दोनों रूप मिलते हैं; स्थिति को दोनों की आवश्यकता भी थी। इन दोनों नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए दो-एक स्त्री-पुरुष-पात्रों को देश-भक्त बनाना अनिवार्य था। 'स्कंदगुप्त' में पर्णदत्त, बंधुवर्मा, भीमवर्मा, जयमाला और स्कंदगुप्त, सभी स्वतंत्रता के पुजारी हैं; उसकी रक्षा के लिए हँसते-हँसते मर मिटने को, देश-प्रेम की बलिवेदी पर चढ़ जाने को, तैयार हैं। 'चंद्रगुप्त' मे सिंहरण, अलका, चंद्रगुप्त, चाणक्य इत्यादि के हृदयों में देशभक्ति का अपूर्व स्रोत प्रवाहित हो रहा है और व्यक्तिगत सुखों को ठुकराकर वे स्वदेश की स्वतंत्रता-रक्षा में प्राणों की बाजी लगा देते हैं।

भारतीय अभिमान और गर्व-गौरव की राष्टीय भावना चंद्रगुप्त और सिंहरण में विशेष प्रबल है और बिदेशियों से प्रत्येक संघर्ष में वे इसका सुन्दर परिचय देते हैं। सिल्यूकस से चंद्रगुप्त का प्रथम परिचय कानन-पथ में होता है। यवन-सेनापति इसे मगध का निर्वासित

राजकुमार समझ, 'कुछ विचारकर', अपने शिविर में चलने का निमंत्रण देता है, तब चंद्रगुप्त का उत्तर है—'धन्यवाद, भारतीय कृतघ्न नहीं होते। सेनापति ! मैं आपका अनुगृहीत हूँ, अवश्य आपके पास आऊँगा'। दांड्यायन के आश्रम में चंद्रगुप्त के तेज से प्रभावित होकर सिकंदर पुनः उसे अपने शिविर में निमंत्रित करता है। और चंद्रगुप्त निर्भयता के स्वर में स्वीकारता है—'अनुगृहीत हुआ। आर्य लोग किसी निमंत्रण को अस्वीकार नहीं करते'।

यवनों से युद्ध में पौरव पर्व्वतेश्वर भी उन्हें यही बतलाना चाहता है कि 'भारतीय लड़ना जानते हैं'। मालव-दुर्ग के युद्ध में यवन-सम्राट् को घायल करके भी सिंहरण छोड़ देता और मालव सैनिकों के विरोध करने पर समझाता है----'ठहरो मालव वीरो, ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर ऋण था; पर्व्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है'। दूसरी ओर चंद्रगुप्त भी यवन-सेनापति सिल्यूकस को घेर कर पुनः यह कह कर----'जाओ सेनापति, मुझ पर कृतज्ञता का बोझ है—तुम्हारा जीवन'---छोड़ देता है। यवन सम्राट् को भारत से विदा करते समय चाणक्य कहता है---'तुम वीर हो सिकन्दर ! भारतीय सदैव उत्तम गुणों की पूजा करते हैं। तुम्हारी जल-यात्रा मंगलमय हो। हम लोग युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं।

द्वितीय यवनाक्रमण में चंद्रगुप्त सिल्यूकस का स्वागत जिन शब्दों से करता है, उनसे भी भारतीयता की भावना स्पष्ट होती है---'स्वागत सिल्यूकस। अतिथि की-सी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते, परंतु क्षात्र-धर्म बड़ा कठोर है। आर्य कृतघ्न नहीं होते, प्रमाण यही है कि मैं अनुरोध करता हूँ कि यवन सेना बिना युद्ध के लौट जाय'। यवन- सेना को पराजित करने के पश्चात् भी सिल्यूकस को बंदी न बना कर चंद्रगुप्त कहता है---'यवन-सम्राट् ! आर्य कृतघ्न नहीं होते। आपको सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देना ही मेरा कर्तव्य

था। सिंधु के इस पार अपने सेना-निवेश में हैं आप; मेरे बंदी नहीं। मैं जाता हूँ।' और भारतीय कृतज्ञता का यह अद्भुत उदाहरण देखकर यवन-सम्राट् सिल्यूकस के मुख से स्वतः निकल जाता है—'इतनी महत्ता'!

चाणक्य और अलका, दोनों राष्ट्रीय भावना के प्रचार और संगठन का दूसरा कार्य करते हैं। चाणक्य मगध-नरेश नंद को, यवनों का सामना करने को प्रस्तुत पर्व्वतेश्वर की, सहायता करने की सम्मति देता है और समझाता है कि यवनाक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों का भेद न रखेंगे। आगे चलकर यवन-सम्राट् सिकंदर के सहायक देशद्रोही आंभीक को सचेत करता है— 'तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया, इसे संभवतः तुम न भूले होगे'। और आंभीक जब अपनी भूल स्वीकारता है तब चाणक्य ने समझाया— 'चंद्रगुप्त का साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य-साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतंत्र मालव, शूद्रक, यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग हैं। केवल तुम्हीं अलग हो'। और आंभीक सहमत होकर स्वीकारता है—'व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध कर सकेगा।.....मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ'। इसी प्रकार चाणक्य ने मालव की युद्ध-परिषद् के सदस्यों में भी भारतीयता की भावना, एक व्याख्यान देकर, जाग्रत की है और संगठन का अपेक्षित महत्व बतलाया है।

अलका प्रथम यवनाक्रमण के अवसर पर सिंहरण से प्रतिज्ञा करती है—'मैं भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ। .....मैं आंभीक के पतन को शक्ति भर रोकूँगी'। पिता गांधार-नरेश के सामन उत्तेजित स्वर में उसने कहा है—'कुल-पुत्रों के रक्त से आर्यावर्त्त की भूमि सिंचेगी। दानवी बनकर जननी जन्मभूमि अपनी संतान को खायगी। महाराज! आर्यावर्त्त के सब बच्चे आंभीक जैसे नहीं होंगे। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा

और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे। स्मरण रहे, यवनों की विजयवाहिनी के आक्रमण को प्रत्यावर्तन बनानेवाले यही भारत-संतान होंगे। तब बचे हुए क्षात्रवीर गांधार को, भारत के द्वार-रक्षक को, विश्वासघाती के नाम से पुकारेंगे और उसमें नाम लिया जायगा मेरे पिता का ? उसे सुनने के लिए मुझे न छोड़िए, दंड दीजिए—मृत्युदंड'।

इतने ओजस्वी शब्द भी देशद्रोहियों को प्रभावित करने में असफल देख 'आर्यावर्त्त की राजलक्ष्मी' अलका समस्त गांधार में विद्रोह मचाती फिरती है। द्वितीय यवनाक्रमण के समय भी उसका यही जीवनोद्देश्य है। अपने देशवासियों को संबोधित कर उसने कहा है—'तक्षशिला के वीर नागरिको ? एक बार, अभी-अभी सम्राट् चंद्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था। आर्यावर्त्त—प्यारा देश—ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पददलित होने जा रहा है; तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतंत्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राज-महल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है और तुम ? अपने प्रश्न का अलका को वीर नागरिकों से अभीष्ट उत्तर ही मिलता है—'माँ ! हम लोग प्रस्तुत हैं'। परन्तु इससे महत्तर सफलता उसे तब मिलती है जब अलका को 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' वाला गीत गाते सुनकर देश-द्रोही आंभीक चाणक्य से प्रतिश्रुत होता है और अलका से स्वच्छ और निष्कपट हृदय से वीरोचित स्वर में कहता है—'बहन ? तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। .....मैं देशद्रोही हूँ ? नीच हूँ। तूने गांधार के राज-वंश का मुख उज्ज्वल किया है।'

प्रसाद जी के इस नाटक की एक विशेषता यह है कि इसके विदेशी पात्र भी भारतीय महत्व स्वीकारने में अपना गौरव समझते हैं। विश्व-विजय का स्वप्न देखनेवाला सिकन्दर चन्द्रगुप्त के सामने अपनी असफलता के पहले कहता है—'भारत आज तक कभी विजित नहीं हुआ।' और विदा होते समय उसके गद्‌गद् कंठ से निकले उद्‌गार ये हैं—'आर्यवीर ! मैंने भारत में हरक्युलिस, एचिलिस की

आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। संभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनंदन करता हूँ।..... मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ'। यवन सेनापति सिल्यूकस भी समय-समय पर भारतीय वीरों की प्रशंसा करता है और उसकी पुत्री कार्नेलिया तो भारतीय रंग-ढंग में इस तरह रँगी हुई है कि यदि उसका नाम और परिचय ज्ञात न हो तो उसके कथन और उद्‌गार सुनकर कोई भी उसे यवन-बालिका नहीं मान सकता। आज से लगभग चौबीस सौ वर्ष पहले जिन विदेशियों ने भारत पर आक्रमण करने का साहस किया था, उन्हीं के सम्राट् तथा अनुयायियों का इस प्रकार भारतीय गरिमा और महिमा का सहज स्वाभाविक स्वर से गान करते-करते गद्‌गद् हो जाना निश्चय ही नाटक-कार के अभिनंदनीय राष्ट्रीयता-प्रेम का परिचायक है।

सामाजिक स्थिति—चातुर्वर्ण्य व्यवस्था हमारे सामाजिक संगठन का मूल-धार कही जा सकती है। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के साथ-साथ वह व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी और जिस समय की कथा को लेकर यह नाटक लिखा गया है, उस समय तक चारों वर्णों में पारस्परिक अविश्वास और वैमनस्य बहुत बढ़ चुका था। सभी अपने-अपने गर्व में चूर थे। क्षत्रिय आम्भीक चाणक्य से अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर सक्रोध कहता है—'बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे ही विरुद्ध कुचकों का सृजन'! ब्राह्मणत्व में चूर चाणक्य जलद-गंभीर स्वर में उपेक्षा से उत्तर देता है—'राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।' आंभीक इस पर उपहास और तिरस्कार के साथ कहता है—'वह काल्पनिक महत्व मायाजाल है। तुम्हारे प्रत्यक्ष नीच

कर्म उन पर पर्दा नहीं डाल सकते'। चाणक्य इस पर अत्यन्त खीझकर उसे 'अविश्वासी क्षत्रिय' कहकर सम्बोधित करता है। तात्पर्य यह कि तक्षशिला का क्षत्रिय राजकुमार ब्राह्मणत्व के प्रति सम्मान दिखाने को प्रस्तुत नहीं है और ब्राह्मण चाणक्य को उसके क्षत्रियत्व पर प्रत्यक्ष अविश्वास है।

मगध के शासक नंद को चाणक्य शूद्र कहता है, क्योंकि उसको ब्राह्मणों से चिढ़ है। ब्राह्मण शकटार और चणक का वह सर्वनाश कर चुका है और बौद्ध धर्मावलम्बी होने के कारण ब्राह्मणों के शत्रु-रूप में प्रसिद्ध है। चाणक्य के परिचय-रूप में 'ब्राह्मण' शब्द सुनते ही वह बहुत खीझकर कहता है—'ब्राह्मण ! ब्राह्मण !! जिधर देखो, कृत्या के समान इनकी ज्वाला धधक रही है'। आगे चलकर जब नंद चाणक्य का प्रत्यक्ष अपमान करता है तब चाणक्य सक्रोध कहता है—'समय आ गया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाये जायँ और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों'। तात्पर्य यह कि मगध की समस्या गांधार से भिन्न है। प्रश्न शासन का है जिसका अधिकारी क्षत्रिय है। शूद्र ने जब उसका अधिकार हस्तगत किया, तब तक तो ब्राह्मण शांत रहा, परन्तु जब वह उसका अपमान करने पर उतर आया तब सच्चे क्षत्रिय की आवश्यकता का अनुभव पुनः चाणक्य को होता है; और उसकी सम्मति में वह क्षत्रिय गांधार-कुमार से भिन्न प्रकृतिवाला अर्थात् ब्राह्मणों का सम्मान करनेवाला होना चाहिए।

पंचनद-प्रदेश के क्षत्रिय शासक पौरव पर्व्वतेश्वर की राजसभा में भी ब्राह्मण चाणक्य का अपमान होता है। मगध के शासन का अन्त करने के लिए चाणक्य, पर्व्वतेश्वर से सैनिक सहायता चाहता है जिससे वह चन्द्रगुप्त मौर्य को सिंहासन पर बैठा सके। वह प्रलोभन देता है कि मगध का उद्धार होने पर वहाँ की लक्षाधिक सेना आगामी यवन युद्ध में पौरव की पताका के नीचे युद्ध करेगी। पर्व्वतेश्वर व्यंग्य करता है—'मौर्य भी तो वृषल है;

उनको सिंहासन दीजिएगा' ? उत्तर में चाणक्य, वशिष्ठ द्वारा पल्लव, दरद, कंबोज आदि के क्षत्रिय बनाय जाने की बात कहता है। पौरव फिर व्यंग्य करता है—'वह समर्थ ऋषियों की बात है'। चाणक्य इस पर खीझ जाता है और भरी सभा में तिरस्कार के साथ कहता है—'भविष्य इसका विचार करेगा कि ऋषि किन्हें कहते हैं। क्षत्रियाभिमानी पौरव तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते'। पर्व्वतेश्वर भी उसी के स्वर में उत्तर देता है—'शूद्र-शासित राष्ट्र में रहनेवाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नहीं देती'। चाणक्य तब भविष्यवाणी-सी करता है—'आसन्न गांधार युद्ध में, शौर्य-गर्व से तुम पराभूत होगे। यवनों के द्वारा समग्र आर्यावर्त पादाक्रांत होगा। उस समय तुम मुझे स्मरण करोगे'। इस कथन से तिलमिलाकर पर्व्वतेश्वर बहुत खीझकर कहता है—'केवल अभिशाप-अस्त्र लेकर ही तो ब्राह्मण लड़ते हैं। मैं इससे नहीं डरता। परन्तु डरानेवाले ब्राह्मण ! तुम मेरी सीमाओं के बाहर हो जाओ'। और तब क्षत्रिय पर्व्वतेश्वर द्वारा अपमानित ब्राह्मण चाणक्य अपने 'पददलित ब्राह्मणत्व' को जलने की आज्ञा देता हुआ जाता है।

यह तो हुआ ब्राह्मण-क्षत्रिय और ब्राह्मण-शूद्र का संघर्ष। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय और शूद्र के पारस्परिक द्वेष की ओर भी लेखक ने संकेत किया है। पंचनद-प्रदेश का शासक पर्व्वतेश्वर क्षत्रिय है जो प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से (प्रस्ताव आने पर भी) परिणय नहीं करना चाहता। मगध-जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का इस प्रकार पर्व्वतेश्वर जब अपमान करता है तब सम्मिलित पारसीक यवनाक्रमण की सूचना पाकर भी उसकी सहायता के लिए नंद प्रस्तुत नहीं होता। इस प्रकार यदि क्षत्रिय राजा को जातीय अभिमान है तो शूद्र राजा व्यक्तिगत अपमान के सामने राष्ट्रीय पराधीनता की बात नहीं सोचता। और इस प्रकार सचेत किये जाने के बाद भी कि यह आगन्तुक आपत्ति पंचनद प्रदेश तक ही न रह जायगी, आसन्न गांधार-

युद्ध में कल्याणी के ससैन्य जाने के प्रस्ताव पर अमात्य राक्षस व्यंग्य मात्र करके चुप हो जाता है ।

इसी प्रकार क्षत्रिय का क्षत्रिय से भी वैर है । विदेशी सिकन्दर के आक्रमण करने पर गांधारराज उसे जिन कारणों से आश्रय देने को प्रस्तुत होता है, उनमें एक यह भी है कि उनका पंचनद-प्रदेश के क्षत्रिय राजा पर्व्वतेश्वर से 'बद्धमूल वैर' है । इसका कारण यह है कि इसने आंभीक का अपमान किया है । गांधार-नरेश ने अपने पुत्र आंभीक से पर्व्वतेश्वर की बहन के विवाह का प्रस्ताव भेजा था जिसके उत्तर में इसने कहलाया कि कायर आंभीक से मैं अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का ब्याह न करूँगा । आंभीक इस उत्तर से बहुत चिढ़ गया । इस प्रकार यहाँ भी व्यक्तिगत वैर ने राष्ट्रीयता की भावना को दबा दिया है ।

धार्मिक स्थिति—बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों का संघर्ष इस नाटक में स्थान-स्थान पर चित्रित है । धर्म का मूल उद्देश्य भूलकर दोनों धर्मानुयायी एक दूसरे के कट्टर विरोधी हो गये । उनका दृष्टिकोण यहाँ तक संकुचित हो गया था कि मगधामात्य राक्षस तक्षशिला-जैसे विश्वविख्यात विद्यालय की शिक्षा की अनावश्यकता बताते हुए कहता है—'केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में ही मिल सकती है ।' ब्राह्मण चाणक्य इस पर व्यंग्य करता है—'परन्तु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-बिहार में रहनेवालों के लिए उपयुक्त हो ।' यह कथन राजनीति की दृष्टि से, किसी सीमा तक, ठीक हो सकता है; परन्तु कुछ देर बाद ही, धर्माविरोध में जब वह कहता है—'राष्ट्र का शुभचिंतन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं'—तब हम इस दूरदर्शी व्यक्ति की भी दूरदर्शिता के विषय में सन्देह में पड़ जाते हैं; क्योंकि उसका यह वाक्य संकुचित मनोवृत्ति का ही अधिक परिचायक जान पड़ता है । आगे चलकर चाणक्य, राक्षस को

समझाता है—'यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे'। इस सत्य की इतिहास में अनेक बार आवृत्ति हुई है, परन्तु हमारी धर्मांधता ने हमें कभी सचेत न होने दिया और हम आज भी संकीर्ण विचारों को त्यागने में पूरी तौर से सफल नहीं हो सके हैं।

इस धार्मिक संघर्ष से मगध का शासक नंद सदैव लाभ उठाता है। प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में प्रतिवेशी से हमें सूचना मिलती है, 'नंद को ब्राह्मणों से घोर शत्रुता है और वह बौद्ध धर्मानुयायी हो गया है'। ब्राह्मण शकटार और चणक पर उसके अत्याचारों की कथाएँ इस कथन का पुष्टि करती हैं। परन्तु वास्तविकता का पता लगता है चौथे दृश्य में धर्मपालिका के इस कथन से—'वह सिद्धांत-विहीन नृशंस (नंद) कभी बौद्धों का पक्षपाती, कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद-नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है'।

प्राचीन शिक्षा—आज के युग में शिक्षा ने एक प्रकार से व्यापार का रूप धारण कर लिया है। जिसमें जितनी ही अधिक पूँजी लगाने की सामर्थ्य है, वह उतनी ही उपाधियाँ प्राप्त करके पत्र-योग्यता के बल पर ऊँचे से ऊँचा पद पा सकता है। परन्तु निर्धन युवक साधन-हीनता के कारण, इच्छा रहते हुए भी मनचाही शिक्षा नहीं पा सकता। इसके विपरीत, प्राचीन विश्वविद्यालयों में धनहीनों को भी अच्छी शिक्षा पाने की सुविधा थी। विद्यालयों का शुल्क या गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए उन्हें कुछ समय के लिए अध्यापन कार्य करना होता था। तक्ष-शिला के गुरुकुल में निर्धन चाणक्य इसी प्रकार शिक्षा प्राप्त करके गुरु-ऋण से मुक्त होता है। सिंहरण से वह कहता है—'इस वर्ष के भावी स्नातकों की अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिंचन को गुरु-दक्षिणा चुका देनी थी'।

कथोपकथन

यों तो ललित साहित्य के अंगों में कथोपकथन का पर्याप्त महत्व होता है, परंतु नाटक का तो वह एक प्रकार से आधार ही है। उपन्यास, कहानी आदि में वस्तु-विषय की पूर्व सूचनाओं के संकलन, बिखरे हुए सूत्रों के संगठन, अथवा भावी घटनाओं की सूचना देने एवं पात्रों के स्वभाव की विशेषताओं की ओर इंगित करने और मनोभावों के विश्लेषण में संलग्न होने आदि, का अवकाश और अधिकार लेखक को सदैव रहता है। परंतु नाटक में, इसके विपरीत, ऐसी सभी बातों के लिए कथोपकथन का सहारा लिया जाता है; लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने का कभी अवसर नहीं रहता। पात्र-विशेष के वक्तव्य के आरंभ, मध्य या अंत में लेखक उसकी शारीरिक मुद्राओं के संबंध में यद्यपि नाटक में भी कभी-कभी संकेत कर देता है अथवा वक्तव्य के समाप्त होने पर रंगमंचीय स्थिति की सूचना दे देता है, परंतु इतने से कथा-वस्तु अथवा पात्रों के संबंध में कोई स्पष्ट बात नहीं ज्ञात होती। इन सबके लिए तो उसे कथोपकथन पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

नाटकीय कथोपकथनों को, स्थूल रूप से, तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे कथोपकथन आते हैं जो कथा-संबंधी सूचना देते हों। द्वितीयवर्ग वाले पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और तृतीय वर्ग के कथोपकथन पात्रों के सामने ऐसा प्रसंग

उपस्थित कर देते हैं जिसका उत्तर उन्हें शीघ्र नहीं सूझता, परंतु यदि उपयुक्त उत्तर दे सका तब वह स्वयं तो उबर ही जाता है, पाठक को भी चमत्कृत कर देता है। ऐसे स्थलों की संख्या प्रत्येक रचना में बहुत थोड़ी होती है। इन तीनों को क्रमशः कथावस्तु प्रकाशक, चरित्र-प्रकाशक, और तुरतबुद्धि-प्रकाशक कथोपकथन कह सकते हैं।

(क) कथा-वस्तु प्रकाशक कथोपकथन—'चन्द्रगुप्त' नाटक में इस वर्ग के कथोपकथनों के उदाहरण प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से ही मिलते हैं। चाणक्य और सिंहरण का निम्नलिखित वार्तालाप तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का परिचय देने के अतिरिक्त कथा की भावी गति-विधि के संबंध में भी सकेत करता है —

चाणक्य—अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे ?

सिंहरण—अभी तो मैं मालव नहीं जाता। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य— मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं ?

सिंहरण – मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खंडराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

इस कथोपकथन में जहाँ चाणक्य का 'मुझे प्रसन्नता.....सफल होगा' वाला वाक्य शिष्य की प्रशंसा करके उसको रहस्य बता देने को उत्साहित करने के लिए कहा गया है, वहाँ सिंहरण का सांकेतिक रीति से, 'आर्यावर्त का.....विस्फोट होगा' कहना उसकी सतर्कता का परिचायक है। संपूर्ण वार्तालाप कथा की भावी गति-विधि के संबंध में पाठक को उत्सुक बना देता है।

(ख) चरित्र-प्रकाशक कथोपकथन—प्रस्तुत नाटक में वीर रस

की प्रधानता है। राष्ट्र के रक्षक और शत्रुओं के विरोधी वर्ग रहते हैं युद्ध-क्षेत्र में जिनका प्रत्यक्ष सामना होने के पूर्व ही देश-द्रोहियों का वर्ग जिनको परोक्ष रूप से संबद्ध कर देता है। बात करनेवाले यदि एक ही पक्ष के हैं तो वार्तालाप में साधारणतया उत्साह की और यदि विरोधी पक्ष के हैं तो आवेश और व्यंग्य की व्यंजना होनी चाहिए। नाटक के प्रथम दृश्य में ही आंभीक, चाणक्य और सिंहरण के पारस्परिक कथोपकथन में ओज और व्यंग्य की सम्मिलित योजना उसको बहुत प्रभावोत्पादक बना देती है —

आंभीक—(सक्रोध) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन !

चाणक्य—राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आंभीक—वह काल्पनिक महत्व मायाजाल है; तुम्हारे प्रत्यक्ष नीच कर्म उन पर पर्दा नहीं डाल सकते।

चाणक्य—सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय ! इसी से दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।

आंभीक—और तुम धक्का देने का कुचक्र विद्यार्थियों को सिखा रहे हो !

सिंहरण—विद्यार्थी और कुचक्र ! असंभव ! यह तो वे ही कर सकते हैं जिनके हाथ में कुछ अधिकार हो, जिनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेरु से भी कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाह्लीक तक ....।

आंभाक—बस-बस दुर्द्धर्ष युवक। बता तेरा अभिप्राय क्या है ?

सिंहरण—कुछ नहीं।

आंभीक—नहीं, बताना होगा। मेरी आज्ञा है।

सिंहरण—गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती है; अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं।

इस कथोपकथन से आंभीक की करतूतों पर प्रकाश पड़ता है, जिसका संबंध कथा-वस्तु से है; साथ-साथ सिंहरण की निर्भीकता और चाणक्य का ब्राह्मणत्व का गर्व भी स्पष्ट हो जाता है। रहस्य-भेद के कारण आंभीक की खिझलाहट ने जहाँ कथोपकथन को ओजपूर्ण बनाया है, वहाँ सिंहरण के व्यंग्यों ने उसको रोचकता प्रदान की है।

प्रथम अंक के छटे दृश्य में सिंहरण और यवन का वार्तालाप भी चारित्रिक संकेतों की दृष्टि से महत्व का है। गांधार-नरेश प्रदत्त मुद्रा पाकर गर्व में उन्मत्त यवन, सिंहरण को जो उत्तर देता है वह इस बात का द्योतक है कि वक्ता शिष्ट होने के साथ निर्भीक भी है, यद्यपि दृश्य के अंत में उसके कार्य इस निष्कर्ष की पुष्टि नहीं करते—

सिंहरण—यवन, क्या तुम्हारे देश की सभ्यता तुम्हें स्त्रियों का सम्मान करना नहीं सिखाती ? क्या सचमुच तुम बर्बर हो ?

यवन—मेरी उस सभ्यता ने ही मुझे रोक लिया है, नहीं तो मेरा यह कर्तव्य था कि मैं उस मानचित्र को किसी भी पुरुष के हाथ में होने से उसे जैसे बनता, ले लेता।

सिंहरण—तुम बड़े प्रगल्भ हो यवन ! क्या तुम्हें भय नहीं कि तुम दूसरे के राज्य में ऐसा आचरण करके अपनी मृत्यु बुला रहे हो।

यवन—उसे आमंत्रण देने के लिए ही उतनी दूर से आया हूँ।

इसी अंक के आठवें दृश्य में गांधारराज, राजकुमारी अलका और देशद्रोही युवराज का वार्तालाप भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है—

आंभीक—इसे (अलका को) उन सबों ने खूब बहकाया है।

राजनीति के खेल यह क्या जाने ? पिता जी, पर्व्वतेश्वर ने — उद्दंड पर्व्वतेश्वर ने — जो मेरा अपमान किया है, उसका प्रतिशोध !

राजा — हाँ बेटी ! उसने स्पष्ट कह दिया है कि कायर आंभीक से मैं अपने लोक-विश्रुत कुल की कुमारी का ब्याह न करूँगा।

अलका — तब महाराज ! उस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए जो लड़-कर मर नहीं गया, वह कायर नहीं तो और क्या है ?

आंभीक — चुप रहो अलका !

राजा — तुम दोनों ही ठीक बातें कह रहे हो, फिर मैं क्या करूँ ?

अलका — महाराज मुझे दंड दीजिए, क्योंकि राज्य का उत्तरा-धिकारी आंभीक ही उसके शुभाशुभ की कसौटी है; मैं भ्रम में हूँ।

राजा — मैं यह कैसे कहूँ !

अलका — तब मुझे आज्ञा दीजिए, मैं राजमंदिर छोड़कर चली जाऊँ।

राजा — कहाँ जाओगी और क्या करोगी अलका ?

अलका — गांधार में विद्रोह मचाऊँगी !

राजा — नहीं अलका, तुम ऐसा न करोगी।

अलका — करूँगी महाराज, अवश्य करूँगी।

राजा — फिर मैं पागल हो जाऊँगा ! मझे तो विश्वास नहीं होता।

आंभीक — और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा।

राजा — नहीं आंभीक ! तुम चुप रहो। सावधान ! अलका के शरीर पर जो हाथ उठाना चाहता हो, उसे मैं द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारता हूँ।

इस वार्तालाप से गांधारराज की विवशता और वात्सल्य, अलका की देश-द्रोही भाई के प्रति तिरस्कारयुक्त घृणा और राष्ट्र-प्रेम तथा

आंभीक की बहन के प्रति स्नेह को कुचलनेवाली अदूरदर्शिणी निष्ठुरता आदि पर प्रकाश पड़ता है।

दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में सिकंदर और चन्द्रगुप्त का निम्न-लिखित वार्तालाप भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है—

सिकंदर—हमारी सेना इसमें सहायता करेगी, फिर भी (मगध का उद्धार) असम्भव है !

चन्द्रगुप्त—मुझे आपसे सहायता नहीं लेनी है।

सिकंदर—(क्रोध से) फिर इतने दिनों तक ग्रीक-शिविर में रहने का तुम्हारा उद्देश्य !

चन्द्रगुप्त—एक सादर निमन्त्रण और सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण उनके अनुरोध की रक्षा। परंतु में यवनों को अपना शासक बनने को आमंत्रित करने नहीं आया हूँ।

सिकंदर—परंतु इन्हीं यवनों के द्वारा भारत, जो आज तक कभी आक्रांत नहीं हुआ है, विजित किया जायगा।

चंद्रगुप्त—यह भविष्य के गर्भ में है, उसके लिए अभी से इतनी उछल-कूद मचाने की आवश्यकता नहीं।

सिकंदर—अबोध युवक ! तू गुप्तचर है !

चंद्रगुप्त—नहीं, कदापि नहीं। अवश्य ही यहाँ रहकर यवन रण-नीति से मैं कुछ परिचित हो गया हूँ। मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आंभीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परंतु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।

सिकंदर—तुमको अपनी विपत्तियों से डर नहीं ? ग्रीक लुटेरे हैं ?

चंद्रगुप्त—क्या यह झूठ है ? लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है।

सिकन्दर—(आश्चर्य और क्रोध से) सिल्यूकस !

चंद्रगुप्त—सिल्यूकस नहीं, चंद्रगुप्त से कहने की बात चंद्रगुप्त से कहनी चाहिए।

आंभीक—शिष्टता से बातें करो।

चंद्रगुप्त—स्वच्छ हृदय भीरु-कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य ! देश-द्रोही ! आंभीक ! चंद्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।

इस अवतरण के प्रारम्भिक वाक्यों से सिकन्दर की प्रलोभन देनेवाली नीति पर और चंद्रगुप्त के वाक्यों से उसके अनुपम साहस और उसकी दृढ़ निर्भीकता पर प्रकाश पड़ता है।

(ग) तुरतबुद्धि प्रकाशक कथोपकथन—बातचीत के सिलसिले में कभी-कभी ऐसा प्रसंग सामने आ जाता है कि उसका उत्तर शीघ्र समझ में नहीं आता और शीघ्रता में दिया गया उत्तर उपयुक्त भी नहीं होता। ऐसे अवसर पर यदि उचित उत्तर सूझ जाय तो बड़ी प्रसन्नता होती है। कुशल नाटककार के कथोपकथन में भी यह विशेषता अवश्य होनी चाहिए। यद्यपि कभी-कभी ऐसे उत्तर-प्रत्युत्तर से पात्रों के चरित्र पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता; क्योंकि एक तो ऐसे स्थल लम्बे नही होते और दूसरे उनका घनिष्ठ संबंध केवल सूझ-बूझ से रहता है; तथापि पात्र की तुरंत-बुद्धि के साथ-साथ इनसे लेखक की कुशलता का पता अवश्य चलता है। ऐसे प्रश्न सुनकर पाठक की उत्सुकता बढ़ जाती है और उत्तर में यदि उपयुक्तता हुई तो उसका चित्त चमत्कृत हो जाता है।

'प्रसाद' जी के 'चंद्रगुप्त' में इसके दो-तीन सुंदर उदाहरण मिलते हैं। प्रथम दृश्य के प्रथम अंक में गांधार-राजकुमारी अलका सिंहरण की निर्भीकता से विशेष प्रभावित होती है और उससे चिढ़े हुए अपने क्रोधाभिभूत भाई की अवज्ञा की उपेक्षा करके कहती है—भाई, इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छंद हृदय में कितना बलवान वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।

आंभीक ने अलका को डाँट दिया, परंतु नाटककार ने इस एक कथन

के द्वारा अपरिचित सिंहरण के प्रति इस कुमारी के आकृष्ट हो जाने का सूक्ष्म संकेत दे दिया है।

यही अलका कुछ समय पश्चात् एकांत में सिंहरण से मिलती है। उसे आशंका है कि उसका अपमानित भाई, जो यवनों से मिला हुआ है कहीं सिंहरण के अनिष्ट का कुचक्र न रचे। इसलिए आते ही पूछती है—मालव वीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया?

प्रश्न साधारण है; परंतु इसमें ध्वनित सहानुभूति से बल पाकर सिंहरण का वीर-युवक हृदय विनोद कर बैठता है—क्यों देवि! क्या मैं यहाँ रहने के उपयुक्त नहीं हूँ?

अलका इस प्रश्न के लिए तैयार नहीं थी; वह तो सकारण 'हाँ' या 'नहीं' सुनना चाहती थी। अपने राज्य में वह निर्भय विचरती है; परंतु उसका स्वच्छ हृदय किसी युवक के इस प्रकार के विनोद से सर्वथा अपरिचित है। सोचने-विचारने का भी अवसर नहीं है और छल-कपट से भाव-गोपन उसको आता नहीं। अतएव उसके सरल हृदय की स्वच्छता ही उसके आड़े आती है और अपना मनोभाव स्पष्ट शब्दों में वह व्यक्त कर देती है—नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शांति के लिए चिंतित हूँ।

इसी प्रकार द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में यवन सेनापति की कन्या कार्नेलिया को एकांत में पाकर, उससे प्रेम करनेवाला फिलिप्स, कुछ सोचकर कहता है—कुमारी, न जाने फिर कब दर्शन हो, इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।

कार्नेलिया युवती है, देश-विदेश घूमी है और उसको नारी-हृदय का कुछ-कुछ ज्ञान भी है। फिलिप्स से वह शिष्टाचार के नाते बात करती है; परंतु उससे प्रेम नहीं करती। इसलिए उक्त प्रश्न सुनते ही डाँट देती है—तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स!

फिलिप्स अनुभवी और वाक्चतुर है। वह अपने अगले कथन से कार्नेलिया के प्रति अपनी सम्मान-भावना प्रकट करता है और साथ-

साथ अपनी पूर्वोक्त कामना की स्वाभाविकता का समर्थन भी सूक्ति द्वारा करता है—प्राण देकर भी नहीं कुमारी ! परंतु प्रेम अंधा होता है ।

अब कार्नेलिया के सामने समस्या है उत्तर देने की । सामान्यतः ऐसे अवसर पर डाँट-फटकार की नौबत आ जाती है जो नारी-पक्ष की परवशता और अधीरता की द्योतक है । परन्तु कार्नेलिया ऐसा वाक्य कहती है जिससे उसका अधैर्य भी नहीं प्रकट होने पाता और फिलिप्स को फटकार भी मिल जाती है—तुम अपने अंधेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स ।

पौरव पर्व्वतेश्वर से कहे गये गांधार राजकुमारी के प्रत्येक वाक्य से उसकी चतुरता और तुरत-बुद्धि का परिचय मिलता है—

पर्व०—सुंदरी अलका, तुम कब तक यहाँ रहोगी ?

अलका—यह बंदी बनानेवाले की इच्छा पर निर्भर करता है ।

पर्व०—तुम्हें कौन बंदी कहता है ? यह तुम्हारा अन्याय है । अलका, चलो, सुसज्जित राजभवन तुम्हारी प्रत्याशा में है ।

अलका—नहीं पौरव, मैं राजभवनों से डरती हूँ; क्योंकि उनके लोभ से मनुष्य आजीवन मानसिक कारावास भोगता है ।

पर्व०—इसका तात्पर्य ?

अलका—कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतंत्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है—यही उन विलासपूर्ण राजभवनों का प्रलोभन है ।

कथोपकथन के दोष—नाटक का अभिनय-योग्य होना आवश्यक है और प्रत्येक नाटककार इस बात का शक्तिभर प्रयत्न भी करता है कि उसकी रचना का सफलतापूर्वक अभिनय किया जा सके । छोटे-छोटे और उपयुक्त कथोपकथन इसमें सहायक होते हैं; परन्तु बड़े और अनुपयुक्त कथोपकथनों से नाटक अभिनय की दृष्टि से असफल हो जाता है । संतोष की बात है कि 'अजातशत्रु' और 'स्कन्दगुप्त' की तरह

लम्बे-लम्बे कथोपकथन 'चन्द्रगुप्त' में नहीं हैं। फिर भी कुछ स्थलों पर आठ-आठ दस-दस पंक्तियों वाले कथोपकथन मिलते हैं जो कभी-कभी दर्शक को उबा डालते हैं। ऐसे स्थलों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

(अ) प्रथम-अंक, प्रथम दृश्य में चाणक्य का सिंहरण और चंद्रगुप्त से कहा हुआ दस पंक्तियों का वक्तव्य—तुम मालव हो·····सर्वनाश होगा।

(अ) प्रथम अंक, प्रथम दृश्य में अलका का सिंहरण से कहा हुआ वक्तव्य—(निःश्वास लेकर) इसका मैं अनुभव····जाओ वीर।

(इ) प्रथम अंक, द्वितीय दृश्य में नंद का युवती, अनुचर और पुनः युवती से कहा हुआ आठ पंक्तियों का वक्तव्य—वाह, यह अच्छा·····सहचर मात्र है।

(ई) प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य में धर्मपालित का स्नातक से कहा हुआ आठ पंक्तियों का वक्तव्य—स्नातक, तुम ठीक·····अवसर मिलेगा।

(उ) प्रथम अंक, अष्टम दृश्य में अलका का गांधारराज से कहा हुआ ग्यारह पंक्तियों का वक्तव्य—महाराज, मुझे दंड····दंड दीजिए, मृत्युदंड।

(ऊ) प्रथम अंक, नवम दृश्य में चाणक्य का पर्व्वतेश्वर से कहा हुआ नौ पंक्तियों का वक्तव्य—आर्य क्रियाओं का·····दोष ही क्या है?

(ऋ) प्रथम अंक, एकादश दृश्य में दांड्यायन का एनिसाक्रटीज से कहा हुआ दस पंक्तियों का वक्तव्य—मेरी आवश्यकताएँ·····नहीं हो सकता।

(ए) द्वितीय अंक, तृतीय दृश्य में पर्व्वतेश्वर का अपने सेनापति से कहा हुआ दस पंक्तियों का वक्तव्य-सेनापति, देखो·····एक ही है जाओ।

(ऐ) तृतीय अंक, प्रथम दृश्य में चाणक्य के चर का मगधामात्य राक्षस से कहा हुआ आठ पंक्तियों का वक्तव्य—हाँ अमात्य, यह तो·····सिकन्दर भी आवेगा।

(ओ) तृतीय अंक, द्वितीय दृश्य में चाणक्य का पर्व्वतेश्वर से कहा हुआ आठ पंक्तियों का वक्तव्य—(हँसकर) मनुष्य अपनी·····तुम राज्य करो।

(औ) तृतीय अंक, द्वितीय दृश्य में कार्नेलिया का चंद्रगुप्त से कहा गया नौ पंक्तियों का वक्तव्य—नहीं चन्द्रगुप्त·····मानवता की जन्म-भूमि है।

(अं) तृतीय अंक, षष्ठ दृश्य में शकटार का प्रलाप-रूप में चाणक्य से कहा गया चौदह पंक्तियों का वक्तव्य—दुःख, दुःख का नाम.... उसी से रँगा देखता।

(अः) तृतीय अंक, नवम दृश्य में चाणक्य का नंद से कहा गया नौ पंक्तियों का वक्तव्य—नंद तुम्हारे ऊपर·····घृणित पाशववत्ति पर·····।

(अअ) चतुर्थ अंक, द्वितीय दृश्य में सुवासिनी का राक्षस से कहा हुआ ग्यारह पंक्तियों का वक्तव्य—मैं तुम्हारा प्रणय·····नष्ट हो जायगी।

(अआ) चतुर्थ अंक, पंचम दृश्य में चाणक्य का चन्द्रगुप्त से कहा गया चौदह पंक्तियों का वक्यव्य—चंद्रगुप्त, मैं ब्राह्मण हूँ·····और कितने नीचे हूँ।

(अइ) चतुर्थ अंक, षष्ठ दृश्य में चाणक्य का आंभीक से कहा गया नौ पंक्तियों का वक्तव्य—तुम जानते हो·····जाना चाहते हो ?

(अई) उसी दृश्य में अलका का आंभीक से कहा गया तेरह पंक्तियों का वक्तव्य—भाई, अभी भी·····अमर हो जायगा।

(अउ) इसी दृश्य में चाणक्य से कहा गया चौदह पंक्तियों का वक्तव्य—सुवासिनी, तुम्हारा प्रणाम·····सुवासिनी, जाओ।

उक्त सभी वक्तव्य आठ से चौदह पंक्तियों तक के हैं। अभिनय की दृष्टि से इस लम्बाई का ध्यान रखना उतना आवश्यक नहीं है जितना इस बात का कि वक्तव्य-विशेष में पाठक का ध्यान केन्द्रित

रखने अथवा उसको प्रभावित करने की कोई विशेषता है या नहीं। यदि विशेषता है तो चौदह पंक्तियों का वक्तव्य भी सफल हो सकता है और यदि नहीं है तो आठ पंक्तियों का कथन भी असफल है। इस दृष्टि से उक्त अठारह अवतरणों में प्रथम, चतुर्थ, षष्ठ, नवम और अन्तिम वक्तव्य आठ-दस ही पंक्तियों के होने पर भी अभिनय की दृष्टि से शिथिल हैं। और शेष, जिनमें कई तेरह-चौदह पंक्तियों के भी हैं, सफल कहे जा सकते हैं।

ऊपर दिये गये अवतरणों के अतिरिक्त द्वितीय अंक के षष्ठ दृश्य में मालवों के स्कन्धावर में युद्ध-परिषद के समक्ष सिंहरण आठ पंक्तियों का और चाणक्य बीस पंक्तियों का वक्तव्य देता है। ये दोनों एक प्रकार से भाषण हैं जिससे इनको उक्त लम्बे वक्तव्यों के वर्ग मे नहीं रखा जा सकता। परन्तु अभिनय की दृष्टि से इन भाषणों के कारण हमें तो पूरा दृश्य ही अनावश्यक जान पड़ता है।

स्वगत का प्रयोग

रंगमंच पर कुछ वर्ष पहले, जो नाटक खेले जाते थे, 'स्वगत' कहे गये अंशों की उनमें भरमार रहती थी। मंच के पात्र ऐसे अंशों को मूल से भिन्न स्वर में पाठकों को सुनाते-समझाते थे। आलोचकों ने अभिनय की दृष्टि से इन अंशों को अस्वाभाविक माना। उनका तर्क यह है कि जिन 'स्वगत' अंशों को पात्र-पात्री केवल दर्शकों को ही सुनाने के लिए उच्च स्वर में कहते हैं, यह कैसे सम्भव है कि उनको उन्हीं के पास खड़े अन्य पात्र न सुनें और उन पर कोई प्रभाव न पड़े। अतः स्वगत अंशों को निर्लिप्त भाव से सुनकर अभिनय करते रहना अनुचित ठहराया गया। अपने नाटकों को दोषरहित बनाने के लोभ से नाटककारों ने धीरे-धीरे ऐसे भागों को कम करना आरंभ किया। इधर के नाटकों में इनका प्रायः अभाव ही दिखायी देता है।

'स्वगत' अंशों को देने से लेखक का उद्देश्य पाठकों को अपने पात्र-पात्रियों के आंतरिक विचारों से परिचित कराना होता है। मन, वचन और कर्म में एकता रखनेवाले व्यक्ति समाज में कदाचित् एक प्रतिशत भी न मिलेंगे। शेष निन्नानबे व्यक्तियों के मन में कुछ होगा, कहेंगे कुछ और करेंगे कुछ और। ऐसी दशा में व्यक्ति को ठीक-ठीक समझना सरल काम नहीं है। कर्म और वचन बाहरी चाल-चलन की बातें हैं। सामाजिक शिष्टाचार का पूरा-पूरा ध्यान रख कर ही हमें अपने मुख से वचन निकालने या काम करने पड़ते हैं। इसलिए

यदि वचन और कर्म में एकता भी हो तो उसे प्रायः सामाजिक शिष्टाचार का ही फल समझना चाहिए।

परंतु मन में जब हम बात करते हैं तब विचारधारा पर सामाजिक बातों का प्रभाव नहीं पड़ता। समाज में रहते हुए भी मन में विचरण करते समय हम प्रायः स्वतंत्र रहते हैं। अतः मनुष्य को तभी ठीक-ठीक समझा जा सकता है जब उसके वचनों और कर्मों को शिष्टाचारी आवरण से मुक्त करके समझने की योग्यता हममें हो तथा हम यह विवेचना कर सकें कि इनमें कितना अंश शिष्टाचार का फल है और कितना हृदय के सच्चे भावों और अंतःकरण की सच्ची प्रवृत्तियों का। यह विवेचन-कार्य विशेष अध्ययन और अनुभव चाहता है। कदाचित् इसीलिए नाटकों में 'स्वगत'-कथन द्वारा मन के सीधे-सादे भाव इस प्रकार व्यक्त कर दिये जाते थे कि उनसे व्यक्ति को भली-भाँति समझा जा सके। इसमें सदेह नहीं कि मूलतः यह उद्देश्य उचित और साहित्योपयोगी ही था।

आज के नाटकों को अभिनय-कला की दृष्टि से स्वाभाविक बनाने के लिए आलोचकों ने जब उक्त दोष के कारण 'स्वगत' भाग को अनुचित ठहराया, तब वे भी उसकी उपयोगिता नहीं भूले थे। उनका उद्देश्य यह था कि जिन मानसिक विचारों को स्वगत के अंतर्गत देकर हम पात्र-पात्रियों के चरित्र का परिचय देते हैं, उन्हीं के प्रभाव-स्वरूप उनकी भाव-भंगी, शारीरिक चेष्टा और कार्यों को दिखाकर संकेतरूप में काम निकाला जाय तो यह ढंग अत्यंत रोचक, कलापूर्ण और साहित्योचित होगा। साहित्य का उद्देश्य मानसिक विकास करना भी है। 'स्वगत' का इस नये रूप में प्रयोग करने से साहित्य के इस उद्देश्य को पूर्ण करने में नाटक सहायक हो सकेंगे और निस्संदेह पाठकों के हाव-भाव, कार्य-कलाप आदि का विश्लेषण करके व्यक्ति को समझने का प्रयत्न अत्यंत रोचक और मानसिक विकास में सहायक सिद्ध होगा।

हर्ष है कि आधुनिक नाटककारों ने इस बात को समझा और तदनुसार रचना करना आरम्भ किया है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह केवल ऐसे 'स्वगत' अंशों के लिए है जो मंच पर उपस्थित पात्रों के सामने पात्र-विशेष के द्वारा कहे जाते हैं जिनसे उसके हार्दिक विचार तो प्रकट होते हैं, परंतु जिन्हें वे निकट खड़े हुए पात्रों से नहीं कहते और न चाहते ही हैं कि वे उन्हें सुन-समझ लें। इनमें सबसे ज्यादा खटकनेवाली बात है स्वगत-वक्ता के अतिरिक्त सभी पात्रों का भाषण-काल में चुप और निष्क्रिय रहना जिसका स्पष्ट संकेत है कि वे यह तो जानते हैं कि उनके निकट खड़ा पात्र कुछ कह रहा है और हमें चुप रहना चाहिए, परंतु नाटक-कार के कड़े प्रतिबंध से कान खले रखकर भी वे उसका वक्तव्य नहीं सुनते अथवा सुनकर भी अनसुना कर देते हैं। संतोष की बात है कि 'चंद्रगुप्त' नाटक में ऐसे स्थल थोड़े ही हैं।

द्वितीय अंक के दूसरे दृश्य में मगध-सेनापति के साथ राजकुमारी कल्याणी पुरुष-वेश में पर्व्वतेश्वर की सहायता करके उसे नीचा दिखाने के लिए आयी है। अपने सेनापति से इस उद्देश्य की सफलता का उपाय वह पूछती है। संभवतः युद्ध की भयानकता से भयभीत होकर अथवा कल्याणी की सुकुमारता को लक्ष्य करके वह उपाय बताता है—घायलों की शुश्रूषा का भार लेने का। कल्याणी इस पर उसे फटकार देती है—'मगध सेनापति ! तुम कायर हो'। बेचारा सेनापति प्रकट में तो इतना ही कहता है—तब जैसी आज्ञा हो ! परंतु 'स्वगत'-रूप में दो वाक्य कहता है—'स्त्री की अधीनता वैसे ही बुरी होती है, तिस पर युद्ध-क्षेत्र में ! भगवान ही बचावें।'

सातवें दृश्य में अलका और पर्व्वतेश्वर की बातचीत हो रही है। पर्व्वतेश्वर को सिकंदर के विरुद्ध होने को अलका उकसाती है और पर्व्वतेश्वर उसको प्रसन्न करने के लिए कहता है—मैं समझता हूँ कि एक हजार अश्वारोहियों को साथ लेकर वहाँ पहुँच जाऊँ, फिर कोई बहाना ढूँढ़ निकालूँगा।

यह सुनकर अलका 'मन' में कहती है—मैं चलूं। निकल भागने का ऐसा अवसर दूसरा न मिलेगा! (प्रकट) अच्छी बात है, परंतु मैं भी साथ चलूंगी। मैं यहाँ अकेले क्या करूँगी ?

तीसरा उदाहरण तृतीय अंक के षष्ठ दृश्य में मिलता है। चाणक्य, मगध सम्राट् नंद और उसके अमात्य राक्षस में फूट डलवाने के के उद्देश्य से मालविका को एक पत्र देता है। तब मालविका का यह 'स्वगत' कथन है—(स्वगत) क्या असत्य बोलना होगा ? चंद्रगुप्त के लिए सब कुछ करूँगी (प्रकट) अच्छा।

चौथा उदाहरण भी तृतीय अंक मे ही है। नंद की रंगशाला में शकटार और वररुचि अनेक नागरिकों के साथ उपस्थित होते हैं। राक्षस भी अपराधी के रूप में शृंखला में जकड़ा हुआ है। तभी चंद्रगुप्त प्रवेश करके कहता है—महाराज नंद, हम सब आपकी प्रजा हैं, मनुष्य हैं, हमें पशु बनने का अवसर न दीजिए।

नंद यह सुनकर पहले 'स्वगत' कहता है और तब प्रकट—(स्वगत) विभीषिका। विपत्ति ! सब अपराधी और विद्रोही एकत्र हुए हैं। (कुछ सोचकर प्रकट) अच्छा मौर्य ! तुम हमारे सेनापति हो और तुम वररुचि ! हमने तुम लोगों को क्षमा कर दिया।

ऐसे अवतरणों में संकेतित तथ्य बहुत साधारण हैं। अतएव, हमारी सम्मति में थोड़ा ही प्रयत्न करने पर इनसे छुटकारा मिल सकता था और अधिक कलापूर्ण ढंग से इनका समावेश भी किया जा सकता था।

एक प्रकार के 'स्वगत' और हैं जो अनेक दृश्यों के आदि और अंत में मिलते हैं। ऐसे अंश उन अवसरों पर कहे गये हैं जब मंच पर दूसरा पात्र नहीं होता और इसलिए इन्हें अस्वाभाविक नहीं कह सकते; दूसरे, पात्र-पात्रियों की विचारधारा का इनसे परिचय मिलता है। इस प्रकार के 'स्वगत' प्रस्तुत नाटक में कहीं-कहीं बहुत लम्बे हो गये हैं। दार्शनिक विचारधारा के फलस्वरूप, और कभी-कभी भावपूर्ण गद्यकाव्य

की दृष्टि से, इन 'स्वगत' भाषणों का जो भी मूल्य हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अभिनय के विचार से ऐसे लम्बे स्थल कभी-कभी दर्शकों और पाठकों को उबा देनेवाले होते हैं। इस प्रकार के स्वगत-भाषणों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

(अ) प्रथम अंक, तृतीय दृश्य में चाणक्य—पिता का पता नहीं···· विलीन हो जा।

(आ) प्रथम अंक, सप्तम दृश्य में चाणक्य—समीर की गति भी····· समान भयानक बनूँगा।

(इ) तृतीय अंक, द्वितीय दृश्य में पर्व्वतेश्वर—आह! कैसा अपमान·····जीकर क्या करूँ?

(ई) तृतीय अंक, षष्ठ दृश्य में चाणक्य—वह सामने कुसुमपुर·····छिप कर देखूँ।

(उ) चतुर्थ अंक, पंचम दृश्य में चन्द्रगुप्त—चतुर सेवक के समान·····कब तक चलेगी?

ये वक्तव्य कम से कम बारह और अधिक से अधिक बाइस पंक्तियों के हैं। इनमें से अधिकांश वक्तव्य चाणक्य के हैं और एक-एक बार पर्व्वतेश्वर और चन्द्रगुप्त ने भी इनकी संख्या-वृद्धि में योग दिया है। नाटककार के पक्ष में, इस आधार पर, यह कहा जा सकता है कि उक्त तीनों पात्र नाटक में प्रमुख स्थान रखते हैं; अतएव इनके वक्तव्यों से दर्शक ऊब नहीं सकता। परन्तु इतने से ही नाटक में ऐसे भाषणों की उपयुक्तता का समर्थन नहीं किया जा सकता। ऐसे वक्तव्यों को अरोचक बनने से बचाने के लिए कुछ ऐसे क्रियायुक्त संकेतों का संकलन किया जाना चाहिए जिससे पाठक का ध्यान मंच पर खड़े स्वगत-वक्ता में ही केन्द्रित न होकर कुछ बँटा रहे। साथ साथ विरोधी मनोभावों का उदय भी इस प्रकार हो कि वक्ता का अभिनय स्वरों के उतार-चढ़ाव और भंगिमा-परिवर्तन से भाषण की उबानेवाली एकरसता भंग कर सके। इस दृष्टि से उक्त भाषणों मे चौथा, जो नाटक का सबसे लंबा

स्वगत-वक्तव्य है, बहुत-कुछ सफल हुआ है । चाणक्य अपना भाषण आरम्भ करता है जन्मभूमि दर्शन से पुलकित होकर, परन्तु शीघ्र ही उसका ध्यान जाता है संसार की कठोरता, जीवन की अस्थिरता और उसकी विषमता की ओर । पश्चात् वह अपनी प्रताड़ना में प्रवृत्त होता है; तभी उसे सुवासिनी का स्मरण हो आता है । यह सब तो हुआ मनोभावों के परिवर्तन के कारण और अन्त में दूह की मट्टी हटाता हुआ शकटार उसे दिखायी दे जाता है जो चाणक्य का ही नहीं, दर्शकों का भी ध्यान अपने में केन्द्रित कर लेता है । इस समय उसके मुख से जो शब्द निकलते हैं, वे जैसे दर्शकों के ही हैं ।

एकांत में कहे गये स्वगत-भाषणों के दूसरे वर्ग में वे छोटे वक्तव्य आते हैं जो चार-पाँच से नौ-दस पंक्तियों के हैं । मंच पर कोई पात्र न रहने के कारण ऐसे वक्तव्यों में पात्र-पात्रियों के सच्चे विचार और मनोभाव रहते हैं जिनसे उनके चारित्रिक गुणों-अवगुणों का ठीक-ठीक पता चलता है । प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब वह कुछ देर एकांत में विषय-विशेष के पक्ष-विपक्ष में विचार करने को बाध्य हो जाता है । अतएव ऐसे अवतरणों को अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता । और संक्षिप्तता का गुण इनमें होने के कारण अभिनय की दृष्टि से भी ये नहीं खटकते । चन्द्रगुप्त' नाटक में इस वर्ग के स्वगत-भाषणों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

(अ) प्रथम अंक, प्रथम दृश्य, में सिंहरण—एक अग्निमय गंधक·····आओ देवि ! स्वागत !!

(आ) इसी अंक के तृतीय दृश्य में चाणक्य—झोपड़ी ही तो थी·····मर गया होगा ।

(इ) इसी अंक के चतुर्थ दृश्य में राक्षस—एक परदा उठ रहा है·····सौ बार मरूँगा ।

(ई) इस अंक के अष्टम दृश्य में गांधारनरेश—बूढ़ा हो चला···· दूसरों को देना चाहते हैं ।

(उ) इसी अंक के दशम दृश्य में अलका—चली जा रही हूँ····· चली जा रही हूँ ।

(ऊ) इसी दृश्य के अंत में पुनः अलका—आर्य चाणक्य····· तब अन्यत्र जाऊँगी ।

(ए) इसी अंक के एकादश दृश्य में दांडयायन—यवन, एक क्षण····· रहा है—यही तो·····।

(ऐ) द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में कार्नेलिया—सिंध का यह मनोहर·····भूल तो नहीं गयी ।

(ओ) इसी दृश्य के मध्य में पुनः कार्नेलिया—एक घटना हो गयी·····विनयशील वीरता है ।

(औ) द्वितीय अंक, चतुर्थ दृश्य में मालविका—फूल हँसते हुए···· वह युवक आ गया ।

(अं) इसी दृश्य के अंत में पुनः मालविका—स्नेह से हृदय····· कब आते हैं ।

(अः) द्वितीय अंक, पंचम दृश्य में अलका—सुन्दर निश्छल हृदय·····करना होगा ।

(अअ) द्वितीय अंक, सप्तम दृश्य में पुनः अलका—सिंहरण मेरी आशा····· विंदु दे रहा है ।

(अआ) तृतीय अंक, दशम दृश्य में राक्षस—एक दिन·····आने लगी है ! परंतु·····।

(अइ) तृतीय अंक, पंचम दृश्य में नंद—सुवासिनी कितनी सरल है·····मँडरा रहे हैं, परंतु·····।

(अई) चतुर्थ अंक, प्रथम दृश्य में कल्याणी—मेरे जीवन के····· बचकर क्या करेगी ?

(अउ) इसी दृश्य में पुनः कल्याणी—मगध के राजमंदिर····· कुमुदबंधु !

(अऊ)—चतुर्थ अंक, द्वितीय दृश्य में राक्षस—तो चाणक्य से···· वह्नि प्रज्वलित है।

(अए)—इसी दृश्य में चाणक्य—कारण समझ में····फिर यह क्या ?

(अऐ)—चतुर्थ अंक, चतुर्थ दृश्य में चंद्रगुप्त—विजयों की सीमा है····इतनी उदासी क्यों ?

(अओ)—इसी दृश्य के अंत में मालविका—जाओ प्रियतम···· रंगीन बन जा।

(अऔ)—चतुर्थ अंक, पंचम दृश्य में चंद्रगुप्त—पिता गये···· वह स्वर्गीय कुसुम।

(अअं)—चतुर्थ अंक, एकादश दृश्य में कार्नेलिया—यह क्या···· अपराध है ? चंद्रगुप्त !

(अः)—चतुर्थ अंक, त्रयोदश दृश्य में चाणक्य—कितना गौरव-मय····आज मैं धन्य हूँ।

उक्त दृश्यों में कुछ पात्रों के आंतरिक द्वंद्व पर प्रकाश पड़ता है और कुछ वाह्य-द्वंद्वात्मक नाटक की क्रियाशीलता में सहायक हैं। इनके साथ यदि कार्य-विशेष भी संगठित कर दिया जाय तो इनकी रोचकता और सार्थकता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए द्वितीय अंक के दशम स्कंध में दिया गया अलका का यह स्वगत-कथन दिया जा सकता है—'संध्या का नीरव निर्जन प्रदेश है। बैठूँ। (अकस्मात बाहर से, हल्ला होता है, युद्ध शब्द) क्या चंद्रगुप्त ने आक्रमण कर दिया ? परंतु यह स्थान····बड़ा ही अरक्षित है। (उठती है) अरे, वह कौन है ? कोई यवन सैनिक है क्या ? तो सावधान हो जाऊँ।

एक बात और। मंच पर यदि पात्र उपस्थित है और दूसरा इस प्रकार प्रवेश करता है कि पहले को उसका पता नहीं हो पाता, तो

हमें आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि वह लुक-छिपकर पीछे से आ सकता है। परंतु यदि वह उसी को लक्ष्य करके नौ-दस पंक्तियों का वक्तव्य देता है और पूर्व पात्र मंच पर उपस्थित रहते हुए भी कुछ नहीं सुनता, तब हमें व्यापार की अस्वाभाविकता बहुत खटकती है। चतुर्थ अंक के तेरहवें दृश्य में इसका एक उदाहरण मिलता है। दांड्यायन के तपोवन में चाणक्य ध्यानस्थ है। कुछ समय बाद वह आँख खोलता और एक लंबा स्वगत-भाषण देता है। मौर्य दूसरी ओर झाड़ी में छिपा है और चाणक्य को मारने का अवसर ताक रहा है। उसका वक्तव्य समाप्त होते ही चुपचाप अपना कार्य न करके मौर्य स्वयं दस पंक्तियों का भाषण दे डालता है। उसका यह स्वगत-वक्तव्य इसलिए बहुत खटकता है कि चाणक्य को यदि उसका पता नहीं था तो उसके भाषण-काल में आँख-कान खोले चुप क्यों बैठा रहता है? इस समय भी यदि वह ध्यानस्थ ही बताया जाता, तो संभवतः मौर्य का स्वगत-वक्तव्य अस्वाभाविकता के दोष से किसी अंश तक मुक्त हो सकता था; यद्यपि सर्वांशतः तब भी नहीं, क्योंकि जिस कार्य के लिए वह कटिबद्ध था, उसके संपादन के पूर्व लंबे भाषण की आवश्यकता ही नहीं थी।

सारांश यह कि यों तो वाह्य और अंतर्द्वंद्व-चित्रण का ललित साहित्य के सभी अंगों में महत्व है; परतु नाटक में इनका स्थान और भी ऊँचा है। कारण यह है कि उपन्यास, कहानी आदि में पात्र-पात्री सभी अवसरों पर दर्शकों के सामने उतना नहीं रहते जितना नाटकों में और लेखक को इसमें अपनी ओर से तद्विषयक विवेचनात्मक टिप्पणियाँ देने का भी अवकाश नहीं मिलता। वाह्य द्वंद्व का संबंध पात्र-पात्रियों के वचनों और कार्यों से है जिनके मूल में अंतःप्रेरणा रहती है। हृदय में विरोधी भावों का संघर्ष किस प्रकार होता है और पात्र-विशेष प्रकृति या संस्कार की किस विशेषता के कारण सत्-असत् मार्गों में किस पर चलने का निश्चय करता है, स्थूल रूप से इसी

का चित्रण 'अंतर्द्वंद्व' कहलाता है जिसके लिए स्वगत-कथन की आवश्यकता नाटककार को होती है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के जो स्वगत-कथन इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हैं, वे अंतर्द्वंद्व-चित्रण की दृष्टि से सार्थक हैं एवं जिनसे वाह्य द्वंद्व को प्रेरणा मिलती है, वे अभिनयात्मक क्रियाशीलता की दृष्टि से उपयोगी हैं, परंतु जो अवतरण इन वर्गों में नहीं आते, उनकी उपयोगिता संदिग्ध है ।

गीत और उनकी उपयोगिता

काव्यानंद को ब्रह्मानंद-सहोदर माननेवाले भारतीयों की सभी कला-कृतियों में काव्य का सुन्दर समावेश रहना स्वाभाविक ही समझा जाना चाहिए। नृत्य और संगीत में उन्नति भी हमने इतनी कर ली थी कि मनोरंजन के प्रधान साधनों से उनका निकटतम सम्बन्ध आवश्यक एवं वांछनीय था। अनुकरण द्वारा जन-रंजन के उद्देश्य से नाटक रचने एवं खेलने को जब भारतीय साहित्यकार प्रवृत्त हुए, तब काव्य-रुचि की अधिकता एवं संगीत-कला-प्रेम ने उनमें गीतों का समावेश कर दिया। यही कारण है कि सभी प्राचीन नाटकों में सुन्दर कविता के दर्शन होते हैं। आगे चलकर यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि नाटकीय कथोपकथन का अधिकांश पद्य में रहने लगा। इस वर्ग के कुछ कवियों ने तो पूरे नाटक कविता में लिख डाले हैं।

हिन्दी-नाटक-रचना में प्रवृत्त होनेवाले साहित्य-सेवियों ने संस्कृत परिपाटी की देखादेखी आरम्भ से ही अपनी कृतियों को कविता से लाद रखा था। इसी समय बँगला और अँगरेजी नाटकों से हमारा परिचय हुआ। पाश्चात्य देशों की भी आदि नाट्य रचनाओं में कविता का यथेष्ट प्रभाव रहा, परन्तु मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता का आदर्श सामने रखकर ज्यों-ज्यों उनका समालोचना-साहित्य उन्नति करता गया, नाटक से कविता का बहिष्कार करनेवालों की आवाज त्यों-त्यों ऊँची होती गयी। वस्तुतः नाटकीय पात्रों का पद्य में बातचीत

करना, अथवा बीच-बीच में कविता पढ़ने लगना है भी अस्वाभाविक और अनुपयुक्त। पाश्चात्य आलोचकों का यही प्रधान तर्क था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर जयशंकर प्रसाद के प्रादुर्भाव तक जितने नाटक हिंदी में रचे गये, सबमें जब-तब गीत गाये गये हैं। बँगला और अँगरेजी नाटककारों की कविता के प्रति इस प्रकार रुचि का अभाव देखकर हिंदी के आलोचकों ने इस प्रवृत्ति का विरोध आरंभ किया। नाटककार भी धीरे-धीरे स्वाभाविकता का महत्व समझने लगे। हिंदी के प्रारंभिक नाटककारों की कृतियों से आज के सेवियों की रचनाओं का इसी दृष्टि में मिलान करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

'प्रसादजी' की आरंभिक रचनाओं में कविताओं की संख्या अधिक थी। स्वयं कुशल कवि होने के कारण काव्य का पूर्णतः बहिष्कार करना तो उनके लिए संभव था नहीं, केवल अनावश्यक स्थलों पर ही उन्होंने उनका प्रयोग रोक दिया। दूसरी बात उन्होंने इस संबंध में यह की कि रचना में प्रयुक्त गीतों को स्थिति अथवा पात्र की दृष्टि से स्वाभाविक बना दिया। उनके प्रायः सभी नाटकों में दर्शन, कविता अथवा संगीत-प्रेमी दो-एक पात्र-पात्रियाँ अवश्य हैं जो अपने गीतों के लिए आवश्यक वातावरण की सृष्टि करके उन्हें स्वाभाविक बना लेती हैं।

प्रस्तुत नाटक में कुल तेरह गीत हैं जिनमें ग्यारह स्त्रियों ने गाये हैं, एक पुरुष ने और एक नेपथ्य से सुनाया गया है। अंकों में इन गीतों का विभाजन इस प्रकार है—

संख्या	अंक	गायिका	विशेष
१.	प्रथम	सुवासिनी	मगध-सम्राट् के विलास-कानन में गाये गये हैं।
२.	प्रथम	राक्षस	
३.	द्वितीय	कार्नेलिया	एकांत में भारतीय संगीत।
४.	द्वितीय	अलका	एकांत में, बंदीगृह में।
५.	द्वितीय	अलका	पर्व्वतेश्वर के सामने।

६.	तृतीय	सुवासिनी	नंद की आज्ञा से।
७.	चतुर्थ	कल्याणी	एकांत उपवन में।
८.	चतुर्थ	(नेपथ्य से)	प्रेमोत्तेजक छोटा गीत।
९.	चतुर्थ	मालविका	'स्वर में स्वर्गीय मधुरिमा'
१०.	चतुर्थ	मालविका	लिए चंद्रगुप्त की आज्ञा से।
११.	चतुर्थ	मालविका	एकांत में प्रेम-व्यंजना।
१२.	चतुर्थ	अलका	समवेत स्वर में गायन।
१३.	चतुर्थ	सुवासिनी	कार्नेलिया की प्रेरणा से।

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि मुख्यतः ये गीत सुवासिनी, अलका और मालविका ने गाये हैं। प्रथम तीन अंकों में गीतों की संख्या कम होने का प्रधान कारण यही है कि एक अंक में प्रायः एक ही पात्री अभिनय की दृष्टि से प्रधानता पा सकी है। चतुर्थ अंक में तीनों पात्रियाँ सम्मिलित रूप से काम कर रही हैं और मालविका तो एक ही दृश्य में तीन गीत गाकर अपने अस्तित्व की विशिष्टता का परिचय देती है। इनके अतिरिक्त जीवन में पहली और अंतिम बार कल्याणी एक गीत गाती है और नेपथ्य से भी एक गीत सुनायी देता है। इसी से इस अंक में गीतों की संख्या सात—अर्थात् आधे से अधिक—तक पहुँच जाती है। स्थिति की स्वाभाविकता की दृष्टि से तेरहों गीत निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं:—

१. नर्तकियों के गीत—छह। प्रस्तुत नाटक में नर्तकियाँ यद्यपि एक बार भी नहीं आतीं; परन्तु सुवासिनी, राक्षस और मालविका (इसके प्रथम दो गीत) के जो गीत विलास-कानन में अथवा अन्यत्र नंद, चंद्रगुप्त या कार्नेलिया की आज्ञा से उनके मनोरंजन के लिए गाये गये हैं, वे इसी वर्ग में आते हैं। दूसरों की प्रेरणा से गाये जाने के कारण इन गीतों की स्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

२. एकांत गीत—चार। ऐसे गीत विशेष मानसिक स्थिति या भावावेश में हृदय के उद्‌गार व्यक्त करने को गाये जाते हैं। इनकी गायिकाएँ हैं— कार्नेलिया, अलका, कल्याणी और मालविका।

३. नेपथ्य से – एक। ऐसे गीत विषय के अनुकूल मनोभावों के उत्तेजक होने चाहिएँ। राक्षस के मन में सहसा शंका उठती है कि सुवासिनी की उपेक्षा का कारण कहीं चाणक्य के प्रति उसका आकर्षण तो नहीं है और तभी नेपथ्य से कोई 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला' शीर्षक गीत गाकर उसकी शंका की मानो पुष्टि कर देता है।

४. समवेत स्वर में—एक। अंभीक के हृदय में सोती हुई राष्ट्रीयता की भावना को उत्तेजित करने के लिए चाणक्य के संकेत से यह गीत अलका ने गाया है।

५. शेष—एक, पंचनद-प्रासाद में पर्व्वतेश्वर के सामने विचित्र ढंग में अलका एक गीत गाती है जो मिलता-जुलता तो एकांत गीतों से है, परन्तु नर्तकियों के गीत की तरह पर्व्वतेश्वर को उत्तेजित कर देता है।

विषय की दृष्टि से अलका का 'हिमाद्रि तुंग श्रृंग से' और कार्नेलिया का 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' से आरम्भ होनेवाले दो गीतों को छोड़कर शेष प्रेम, वेदना, सौंदर्यासक्ति आदि मनोभावों और अन्तर्वृत्तियों की व्यंजना करनेवाले हैं। ये सब गीत छोटे, भावपूर्ण और बहुत सुन्दर हैं। कहीं-कहीं आध्यात्मिकता की पुट और भावों की कोमलता ने इन्हें विशेष लोकप्रिय बना दिया है।

भाषा, शैली और सूक्तियाँ

भाषा—

आरम्भ में 'प्रसाद' जी की रचनाओं की भाषा प्रायः सुरल थी; परन्तु ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया, त्यों-त्यों उनकी भाषा भी क्लिष्ट होती गयी। वास्तव में मनोभावों की स्पष्टता और गम्भीर विषयों की विवेचना का प्रयत्न जब किया जाता है, तब भाषा क्लिष्ट हो ही जाती है। 'प्रसाद' जी की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है और अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इसके विपरीत, जहाँ लेखक ने साधारण भाव-प्रभाव के अनुकूल भाषा लिखी है, वहाँ संस्कृत की तत्समता अधिक नहीं है। अस्तु, प्रसाद जी की भाषा मुख्यतः दो प्रकार की है—

(क) **संस्कृत शब्दावली-प्रधान**—यह भाषा विशेष स्थलों पर ही मिलती है, जहाँ मनोभावों का द्वंद्व चित्रित करते-करते लेखक स्वयं भावमय हो जाता है। तल्लीनता की इस अवस्था में प्रसाद जी की भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त है। दो-एक उदाहरण देखिए—

१. अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करनेवाले शरच्चंद्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा लाँघ जाऊँ और तुम्हारा सुरभि-निःश्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे।

—'अजातशत्रु' से।

२. हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न विश्व भर की मदिरा बन कर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भण्डार हो गया।

—'स्कंदगुप्त' से।

३. मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर यथा शक्ति अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो उसके जीवन का परम ध्येय है, उसका एक शीतल विश्राम है। और वह, स्नेह-सेवा-करुणा की मूर्ति तथा सांत्वना के अभय-वरद् हस्त का आश्रय, मानव-समाज की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की एकमात्र अधिकारिणी प्रकृति-स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है।

—'अजातशत्रु' से।

४. आर्यावर्त्त का भविष्य लिखन के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

—'चंद्रगुप्त' से।

५. एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त्त के लौह अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इंद्रधनुष-सी विजय-माला हाथ में लिए उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर-से नाचेंगे।

—'चन्द्रगुप्त' से।

'चन्द्रगुप्त' नाटक में ऐसी भाषा के स्थल कम है, परन्तु 'स्कन्द-गुप्त' में इनकी भरमार है।

(ख) व्यावहारिक भाषा—जिसमें अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों का अभाव तो अवश्य है, परन्तु संस्कृत की प्रधानता अखरती नहीं। इस भाषा में छोटे-छोटे वाक्यों के कारण बड़ा प्रवाह और रस है। इसका प्रयोग उनके पात्रों ने या तो भावावेश में किया है या प्रसाद जी ने स्वयं सरस स्थलों पर। उदाहरणार्थ —

परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिंब तुम्हारे मुख पर भी है । सैनिक ! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो ।

गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—थका हुआ हूँ, इतना कहते-कहते वह व्यक्ति धम-से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा । स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आयी । उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई । वह सोचने लगी—सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी ! घृणा से उसका मन विरक्त हो गया ।

ममता ने मन में कहा—यहाँ कौन दुर्ग है । यही झोपड़ी न, जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्तव्य करना पड़ेगा । वह बाहर चली आयी और मुगल से बोली—जाओ भीतर, थके हुए पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मै तुम्हें आश्रय देती हूँ । मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ ? मुगल ने चन्द्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुख-मण्डल देखा; उसने मन ही मन नमस्कार किया ।

—'ममता' शीर्षक कहानी ।

यह अवतरण दूसरे प्रकार की भाषा का उदाहरण है । इसमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग तो नहीं है, फिर भी भाषा सरल और प्रचलित ही है । प्रसादजी की भाषा पर जब बार-बार क्लिष्टता का आरोपण किया गया, तब वे कुछ सरल भाषा लिखने लगे । प्रारंभिक कहानियों और नाटकों की तरह 'कंकाल' उपन्यास की भाषा का अंतर इस कथन की पुष्टि करता है—'तितली' की भाषा तो और भी व्यावहारिक तथा सरल है । इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' की भाषा की क्लिष्टता 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' में नहीं पायी जाती ।

'प्रसाद' जी की भाषा में मुहावरों का प्रयोग कम है । कारण,

मुहावरों का प्रयोग प्रायः उर्दू में लिखनेवाले लेखकों ने ही अधिकांश में किया—कुछ लेखक इसके अपवाद भी हैं। 'प्रसाद' जी को उर्दू की चुलबुलाहट पसन्द नहीं थी। परन्तु महावरों के अभाव से भाषा में जो शुष्कता या लचरपन आ जाता है, वह उनकी रचनाओं में नहीं मिलता। अतः उन्हें मुहावरों या कहावतों के झंझट में पड़ने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि दार्शनिक विवेचना, आध्यात्मिक स्पष्टता और मनोभावों की व्यंजना के कारण 'प्रसाद' जी की संस्कृत-शब्दावली-प्रधान भाषा विषय के अनुकूल है तथापि उपन्यासों, नाटकों और कहानियों के सभी पात्रों का एक ही-सी परिष्कृत, अलंकृत और सुसंगठित भाषा में बात करना नाटकीय कथोपकथन की दृष्टि से अस्वाभाविक लगता है। इधर हिंदी के विद्यार्थियों की रुचि का परिष्कार हो रहा है, फलतः प्रसाद जी की शुद्ध साहित्यिक भाषा की एकरूपता से अभ्यस्त शिक्षित पाठकों को उसमें विशेष रस मिलता है और इसीलिए उनकी इस भाषा-रूप के प्रशंसकों की भी अब कमी नहीं है।

शैली—

प्रसादजी ने गद्य में नाटक, उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य, जनसाधारण की दृष्टि में, मनोरंजन करना ही होता है। परन्तु प्रसादजी की रचनाएँ केवल मनोरंजन और विनोद की दृष्टि से न लिखी जाकर, अध्ययन के लिए लिखी गयी थीं। उनके ऐतिहासिक नाटकों में संघर्ष के चित्रों के साथ-साथ भावात्मक और गवेषणात्मक स्थल भी हैं। इसका कारण यह है कि अपने नाटकों के लिए 'प्रसाद' जी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना जो उनके प्रादुर्भाव के समय तक कुछ अनिश्चित-सा था। इसके अतिरिक्त नाटकों में घात-प्रतिघात तथा अंतर्द्वंद्व के लिए विस्तृत क्षेत्र भी

उन्हें मिल गया। यदि उनके नाटक घटना-प्रधान होते तो अंतर्द्वंद्व-सम्बन्धी गहनता, जो साहित्यिक दृष्टि से नाटकों की प्रधान विशेषता है, उनकी शैली पर विशेष प्रभाव न डालती, परन्तु ऐसे द्वंद्व की प्रधानता होने के कारण ही प्रसादजी की शैली गूढ़ और गम्भीर हो गयी है।

यह तो हुई साधारण विषय-सम्बन्धी बात। लेखक की शैली पर उसकी रुचि-विशेष का प्रभाव भी पड़ता है। अन्य लेखकों की अपेक्षा 'प्रसाद' जी के लिए बात अधिक सत्य है। उनकी शैली पर उनके गहरे दार्शनिक विचारों—जैसे नियतिवाद, आध्यात्मिक विवेचन आदि—का प्रभाव तो एक ओर पड़ा है, जिससे शैली में गूढ़ता-गम्भीरता प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है; और दूसरी ओर उनके कवि-हृदय की सहज भावुकता की पुट दिखायी देती है, जिससे व्यंजना में विशेष चमत्कार आ जाता है। ये बातें कहानियों और उपन्यासों के लिए भी किसी सीमा तक सत्य हैं। इन्हें जान लेने पर हम प्रसादजी के शैली-रूप को भली-भाँति समझ सकेंगे।

प्रसाद जी पहले कवि हैं, पीछे कुछ और। यही कारण है कि उसकी समस्त कृतियों में काव्यात्मक चमत्कार वर्तमान है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए बड़ी 'सुन्दर उक्तियों का संग्रह करते' वे दिखायी देते हैं। ऐसा करने से वर्णन में विशेष प्रकार की रोचकता आ जाती है। उदाहरण के लिए यह अवतरण देखिए—

प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े, विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेनेवाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी बीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती है।

—'स्कंदगुप्त' से।

यह चमत्कार प्रसाद जी की रचनाओं में प्रायः सर्वत्र मिलता है; छोटी-छोटी कहानियों में भी अनेक स्थलों पर ऐसे वाक्य देखने को मिलते हैं फिर नाटकों का तो कहना ही क्या। वास्तव में जहाँ लेखक

स्वय ही पाठको का दुख-सुख अपना लेता है, वही अपनी भावुकता से ऐसी उक्तियाँ सोच सकता है। इन उक्तियो मे साम्य और चमत्कार तो होता ही है, साथ ही,प्रभाव भी रहता है। इसका सबध पात्र के हृदय मे उत्पन्न दुख, लोभ, ग्लानि, हर्ष आदि मनोभावो की मात्रा के अनुरूप होता है। ज्यो-ज्यो अतस्तल की सूक्ष्म भावनाएँ आवेश, क्रोध आदि मे परिणत होती जाती है त्यो-त्यो प्रसाद जी कुशलतापूर्वक उनका चित्र खीचते चलते है। ऐसे स्थलो पर भावप्रकाशन-शैली बहुत स्वाभाविक है, वाक्य छोटे-छोटे है और भाषा मे सहज प्रभाव है। प्राय अतर्द्वन्द्व-प्रधान स्थलो पर ऐसे उदाहरण अधिक रहते है। अतः भावात्मक शैली के उदाहरण भी बहुत मिलते है। दो-एक उदाहरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मै पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो, मै मनसा के हाथो का विषाक्त अस्त्र बनूँ। उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का ताडव किये बिना मै जी न सकूँगा। मै आत्मघात कर लूँगा।

—'जनमेजय का नाग-यज्ञ' से

(२) सेनापति ! देखो, उन कायरो को रोको। उनसे कह दो कि रणभूमि मे पर्व्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नही। एक बार इन दस्युओ को बतला देना होगा कि भारतीय लडना भी जानते है। बादलो से पानी बरसने की जगह बज़ बरसें, सारी गज-सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हो, रक्त के नाले धमानयो से बहे, परतु एक पग भी पीछे हटना पर्व्वतेश्वर के लिए असभव है। धर्म-युद्ध मे प्राण-भिक्षा माँगनेवाले भिखारी हम नही। जाओ, उन भगोड़ो से एक बार जननी के स्तन्य की लज्जा के नाम पर रुकने को कहो। कहो कि मरने का क्षण एक ही है, जाओ।

—'चद्रगुप्त' से।

ऊपर की पक्तियो का भावावेश स्पष्ट ही है। दूसरे अवतरण में

रणभूमि में मर मिटने को ही जीवन का उद्देश्य समझनेवाने भारती वीर के वीरतापूर्ण भावोद्‌गार का बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन किया गया है। भाषा का धारावाहिक रूप और छोटे-छोटे वाक्य इस शैली की विशेषताएँ हैं। निम्नलिखित अवतरण में भी वाक्यों की गठन और धारा का सुन्दर प्रवाह देखते ही बनता है—

(आप ही आप) बुलाओ, उस वसंत को, उस जंगली वसंत को जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो वन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ, जो पतझड़ कर नयी कोंपल लाता है, हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक-रुक कूर आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है। उस वसंत को, उस गयी हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेलें। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनन्द का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सबमें समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रन्दन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरों में से मकरंद मदिरा पान करके आया हुआ पवन सबके तप्त अंगों को शीतल करे।

—'कामना' से

लेखक की शैली पर उसकी रुचि का बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रसाद जी के विषय में यह बात पूर्ण सत्य है। दार्शनिक और आध्यात्मिक विषयों से उन्हें रुचि थी। अतः उनकी शैली प्रधानतः इन विषयों के अनुकूल हुई है। इसी प्रकार उनके नाटकों में हम देश-प्रेम की पवित्र भावना अधिक देखते हैं। इसका एक कारण उस समय की ऐतिहासिक परिस्थिति है, जिस समय के कथानकों को उन्होंने अपनाया था। भारत पर तब विदेशियों के आक्रमण हो रहे थे। ये आक्रमणकारी

भारतीय प्रजा पर अमानुषीय अत्याचार करते थे। अतः देश-प्रेमियों की सृष्टि करना नाटककार के लिए स्वाभाविक ही था। दूसरी बात यह है कि ऐसे देशोद्धारक या समाज-सुधारक प्रायः कर्मवीर होते हैं, और कर्म की महत्ता का प्रचार भी करते हैं। यही बात कमला और शक्तिमती के इन शब्दों से स्पष्ट होती है—

१—कौन कहता है, तुम अकेले हो ! समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति को जाग्रत करो। यदि भविष्यत् से डरते हो कि तुम्हारा पतन समीप ही है, तो तुम उस अनिवार्य स्रोत से लड़ जाओ। तुम्हारे प्रचंड और विश्वासपूर्ण पदाघात से विंध्य के समान कोई शैल उठ खड़ा होगा, जो उस विघ्न-स्रोत को लौटा देगा। राम और कृष्ण के समान क्या तुम भी अवतार नहीं हो सकते ? समझ लो, जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है। उसमें पुरुषार्थ का समुद्र पूर्ण हो जाता है। उठो स्कंद ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो; सोनेवालों को जगाओ और रोनेवालों को हँसाओ। आर्यावर्त्त तुम्हारे साथ होगा और उस आर्यपताका के नीचे समग्र विश्व होगा। उठो वीर।

—'स्कंदगुप्त' से।

२—बालक, मानव अपनी इच्छाशक्ति से और पौरुष से कुछ होता है। जन्मसिद्ध तो कोई भी अधिकार दूसरों के समर्थन का सहारा चाहता है। विश्व भर में छोटे से बड़ा होना, यही प्रत्यक्ष नियम है। तुम इसकी अवहेलना करते हो ? महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी।..... राजलक्ष्मी तुम्हारे पैरों पर लोटेगी ! पुरुषार्थ करो। इस पृथ्वी पर जियो तो कुछ होकर जियो, नहीं तो मेरे दूध का अपमान कराने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं।

—'अजातशत्रु' से।

इन अवतरणों में हमें उनकी ओजपूर्ण शैली के दर्शन होते हैं, जिसमें बड़ा सुन्दर प्रवाह है और वाक्य भी छोटे-छोटे हैं। परिस्थिति के अनुकूल ऐसी शैली बना लेना वास्तव में लेखक की कुशलता का द्योतक है।

'प्रसाद' जी की शैली की तीसरी विशेषता है—प्रकृति के कार्य-कलाप का भावपूर्ण चित्रण। जड़ को ही नहीं, चेतन को भी उन्होंने प्रकृति का ऐसा अंग माना है, जो अपनी सभी स्थितियों में प्राकृतिक व्यापारों से प्रभावित होता रहता है। 'प्रसाद' जी के पुरुष-स्त्री-पात्र प्रकृति के प्रेमी हैं, उससे प्रेरणा पाते हैं और प्रकृति के जड़ अंग—पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, ग्रह-नक्षत्र आदि—अपने को सांसारिक नर-नारियों का सहचर समझते हैं, उनके सुख-दुख की अनुभूति के भागी हैं। जड़ और चेतन प्रकृति की इन भावनाओं का चित्रण 'प्रसाद' जी ने स्थिति और वातावरण के अनुकूल भाषा में किया है। इन विशेषताओं को नीचे के उद्धरणों में देखा जा सकता है :—

१—आह, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकांड तांडव करता है। फिर भी प्रकृति उसे अंधकार की गुफा में ले जाकर उसके शांतिमय, रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है, किन्तु वह कब मानता है ?

—'अजातशत्रु' से।

२—साधुओं का भजन-कोलाहल शांत हो गया था। निस्तब्धता रजनी के मधुर क्रोड़ में जाग रही थी। निशीथ के नक्षत्र गंगा के मुकुर में अपना प्रतिबिंब देख रहे थे। शीतल पवन का झोंका सबका आलिंगन करता हुआ विरक्त के समान भाग रहा था। महात्मा के हृदय में हलचल थी, वह निष्पाप हृदय ब्रह्मचारी दुश्चिंता से मलीन, शिविर छोड़कर

कंबल डाले, गंगा की जलधारा के समीप खड़ा होकर अपने चिर-संचित पुण्यों को पुकारने लगा। —'कंकाल' से।

शब्दों के द्वारा चित्र अंकित करने की शक्ति भी 'प्रसाद' जी में अद्‌भुत् थी। दृश्यों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेखाओं को पाठक उनके चित्रों में देख सकते हैं। उन चित्रों के रंग इतने पारदर्शक होते हैं कि उस व्यक्ति का हृदय भी हमें स्पष्ट दिखायी दे जाता है। एक उदाहरण देखिए--

घंटी के कपोलों में हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे। भोली मतवाली आंखें गोपियों के छाया चित्र उतारती, और उभरती, हुई वयःसंधि से उसकी चंचलता सदैव छे -छाड़ करती रहती। वह एक छण के लिए भी स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाई लेती तो कभी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके पलकों की आड़ में छिप जातीं, तब भी भौहें चला करतीं। तिस पर भी घंटी एक बाल-विधवा है।

'कंकाल' से।

'प्रसाद' जी कुशल नाटककार थे। अतः अपने पाठकों का चित्त कथानक की ओर आकर्षित करने के लिए उन्होंने नाटकीय ढंग से वाक्यों की योजना की है। प्रत्येक भाषा के वाक्य-विन्यास में विभिन्न शब्दों—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय—का स्थान साधारणतः निश्चित रहता है जिसका ध्यान लिखते समय सभी रखते हैं। परंतु नित्यप्रति के व्यवहार में भाव-विशेष की ओर श्रोता का ध्यान आकर्षित करने के लिए कभी-कभी शब्द-विशेष पर अधिक बल देना अथवा उनके क्रम में परिवर्तन करना पड़ता है। कुशल लेखक की रचना में अवसर आने पर यह परिवर्तन स्वतः हो जाता है। 'प्रसाद' जी की गद्य-रचनाओं में यह विशेषता सर्वत्र मिलती है और केवल कथोपकथन में ही नहीं, अन्य वर्णनों में भी इसके उदाहरण पाये जाते हैं; जैसे—

(१) दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा से अलौकिक एक तरुण-बालिका—चलोगी चंपा! पोत-वाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में?

(२) प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।

(३) इतने में ध्यान आया उस धीवर बालिका का।

इस प्रकार का नाट्यात्मक विन्यास स्थान-स्थान पर उनकी कहानियों में भी रहता है। यह उनकी शैली की चौथी विशेषता है।

कहीं-कहीं पर 'प्रसाद' जी की रचनाओं में सुन्दर व्यंग्य भी मिलता है, जो विशेष चुटीला और मार्मिक न होकर सरल और मीठा है। एक अवतरण देखिए—

महोदय, आपका यह हल्के जोगिया रंग का कुरता जैसे आपके सुन्दर शरीर से अभिन्न होकर हम लोगों की आँखों में भ्रम उत्पन्न कर देता है वैसे ही आपको दुख के झलमले अंचल में सिसकते हुए संसार की पीड़ा का अनुभव स्पष्ट नहीं हो पाता। आपको क्या मालूम कि बुद्धू के घर की काली कलूटी हाँडी भी कई दिन से उपवास कर रही है। छुन्नू मूँगफलीवाले का एक रुपये की पूँजी का खोंमचा लड़कों ने उछल-कूदकर गिरा दिया और लूटकर खा भी गये। उसके घर पर सात दिन की उपवासी रुग्ण बालिका मुनक्के की आशा में पलकें पसारे पड़ी राह देख रही है।

—'एक घूँट' शीर्षक एकांकी से।

इस शैली का चुटकी लेता हुआ व्यंग्य उनकी शैली की पाँचवीं विशेषता कही जा सकती है।

सूक्तियाँ—

'प्रसाद' जी ने जीवन के अनेक सारपूर्ण तथ्यों को सूक्तियों के रूप में लिखा है, जिनकी सत्यता से परिचित पाठक का चित्त सदैव चमत्कृत हो जाता है। सूक्तियों का संबंध लेखक की शैली से है; कारण, इनसे

शैली को विशेष बल मिलता है। नीचे 'प्रसाद' जी के नाटकों से कुछ सूक्तियाँ संकलित हैं—

१ मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यों तो क्रूरता के निदर्शक हिंसक पशु जगत में क्या कम हैं ?

२ बच्चों का हृदय कोमल थाला है; चाहे इसमें कँटीली झाड़ी लगा दो, चाहे फूलों के पौधे।

३ जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है !

४ मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है।

५ विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र में सम दृष्टि रखती है।

६ शुद्ध बुद्धि सदैव निर्लेप रहती है। केवल साक्षी-रूप से वह सब दृश्य देखती है।

७ तटस्थ की शुभेच्छा (शुद्ध बुद्धि) सत्व से प्रेरित होकर, समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित करती है।

८ शीतल वाणी—मधुर व्यवहार—से वन्य पशु भी वश में हो जाते हैं।

९ ससार भर के उपद्रवों का मूल व्यंग्य है। हृदय में जितना यह घुसता है, उतनी कटार भी नहीं।

१० वाक्य-संयम विश्वमैत्री की पहली सीढ़ी है।

११ (कोई भी) बोझ, जहाँ तक शीघ्र हो, यदि एक अधिकारी व्यक्ति को सौंप दिया जाय तो मानव को प्रसन्न ही होना चाहिए।

१२ काम करने के पहले किसी ने भी आज तक विश्वस्त प्रमाण नहीं दिया कि वह कार्य के योग्य है।

१३ जीवन की सारी क्रियाओं का अंत केवल अनंत विश्राम में है।

१४ आत्मबल या प्रतिभा किसी की प्रशंसा के बल से विश्व में नहीं खड़ी होती, अपना अवलंब वह स्वयं है।

१५ पुरुष का हृदय बड़ा सशंक होता है ।

१६ वीर हृदय युद्ध का नाम ही सुनकर नाच उठता है ।

१७ वैधव्य-दुख नारी-जाति के लिए कठोर अभिशाप है ।

१८ उपकार, करुणा, समवेदना और पवित्रता मानव हृदय के लिए ही बने हैं ।

१९ दूसरों के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है ।

२० दूसरों की ओर से उदासीन हो जाना ही शत्रुता की परा-काष्ठा है ।

२१ आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है ।

२२ जिस देश के युवक वीर हों उसका पतन असंभव है ।

२३ प्रमाद में मनुष्य कठोर सत्य का भी अनुभव नहीं करता ।

२४ जन्मभूमि की सेवा के लिए जब सुकुमारियाँ कटिबद्ध हों तब युवक कब पीछे रहेंगे ?

२५ बूढ़ा हो चला, पर मन बूढ़ा न हुआ ! बहुत दिनों तक तृष्णा को तृप्त करने पर भी तृप्ति नहीं होती ।

२६ जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़ कर दूसरा दंभ नहीं ।

२७ निर्लज्ज विद्रोही की हत्या करना पाप नहीं, पुण्य है ।

२८ स्वच्छ हृदय भीरु-कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता ।

२९ स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है, परन्तु (उससे मनुष्य को) बिछलने का भी भय है ।

३० कोमल शय्या पर लेटे रहने की प्रत्याशा में स्वतंत्रता का भी विसर्जन करना पड़ता है ।

३१ शत्रु की उचित प्रशंसा करना मनुष्य का धर्म है ।

३२ नियति सम्राटों से भी प्रबल है ।

३३ महात्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है ।

३४ विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं।

३५ अधिकार-सुख बड़ा मादक और सारहीन होता है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।

३६ राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है।

३७ कविता करना अनन्त पुण्य का फल है।

३८ कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत्य का सत्य से, जड़ का चेतन से, वाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से संबंध करना—कविता का मुख्य उद्देश्य है।

३९ परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है।

४० समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुल्लिग-स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुञ्जी है।

४१ पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक दुःख है। पुण्य की कसौटी पाप है।

४२ जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वहीं स्वर्ग है! वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है, और वह इसी लोक के बीच में मिलता है।

४३ संपूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है।

४४ धनवालों के हाथ में एक ही माप है। वह विद्या, सौंदर्य, बल, पवित्रता, और तो क्या हृदय भी उसी से मापते हैं। वह माप है उनका—ऐश्वर्य।

४५ जाग्रत राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है।

४६ विश्वास कहीं से क्रय नहीं किया जा सकता।

४७ क्षमा और उदारता वही सच्ची है जहाँ स्वार्थ की भी बलि हो।

४८ वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं उतना ही मनुष्य बंधनों से छूटता है और ईश्वर की ओर अग्रसर होता है।

४९ आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों का दलाल है।

५० कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है।

चरित्र-चित्रण और पात्र

साधारण जनसमाज जिन व्यक्तियों में असाधारण गुण देखता है, स्वभावतः उनका सम्मान करने लगता है, उनके आगे श्रद्धा से मस्तक झुकाने में अपना गौरव समझता है। समाज में उनके चरित्र की विशेषताओं की चर्चा बड़े चाव से होती है। धीरे धीरे उनकी महान् विशेषताएँ अतिरंजित रूप में प्रसिद्ध हो जाती हैं। उनका एक-एक सूत्र अपनाकर अनेक प्रकार की किंवदंतियाँ अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार लोग गढ़ लेते हैं। इतिहास-प्रसिद्ध ऐसे ही व्यक्तियों को नाटककार अपनी रचना के प्रमुख पात्र बनाता है जिनके चरित्र मानव-हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखते हों। यह प्रयत्न वीर-पूजा का एक सुन्दर रूप है और इससे हमें नाटककार के राष्ट्रीयता के प्रति प्रेम का परिचय मिलता है।

'प्रसाद' जी भारत के प्राचीन गौरव पर गर्व करनेवाले राष्ट्रीयता के चटक रंग में रँगे ऐसे ही कुशल नाटककार हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास के उस उन्नत हिन्दू-काल की प्रमुख घटनाओं को अपने ग्रन्थों के लिए चुना है जिस पर आज का कोई भी देश गर्व कर सकता है। इतिहासप्रसिद्ध घटनाओं से घनिष्ठतम रूप में संबंधित पात्रों के प्रति अपने ग्रन्थों में उन्होंने प्रेमीजनोचित श्रद्धा दिखायी है; उनके गौरव और महान कार्यों का सविस्तार वर्णन किया है। किसी व्यक्ति के गुण दोष की चर्चा यदि उससे संबंधित व्यक्ति द्वारा ही करायी जाय तो वह विशेष चमत्कारपूर्ण और प्रभावशालिनी नहीं होती। इसीलिए परोक्षरूप

से अपने पात्रों के गौरव-गान का कलापूर्ण प्रयत्न 'प्रसाद' जी ने यह किया है कि प्रतिष्ठित भारतीय पात्रों की महत्ता से चमत्कृत होकर समकालीन विपक्षी—विदेशी वीर, नायक और विदेशी यात्री—मुक्त कंठ से उनके असाधारण गुणों की चर्चा करें। 'राज्यश्री' में चीनी यात्री हुएनसांग और 'स्कंदगुप्त' में सिंहलकुमार धातुसेन अनेक बार हर्ष से क्रमशः सम्राट् हर्ष और युवराज स्कंदगुप्त की महत्ता से चकित होकर अपने प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत नाटक में पौरव पर्व्वतेश्वर, चन्द्रगुप्त, चाणक्य और अलका की प्रशंसा नाटककार ने जगद्विजेता सिकंदर, यवन-सेनापति सिल्यूकस, मगध-अमात्य राक्षस इत्यादि के द्वारा करायी है। चन्द्रगुप्त के मुख का तेज इतना असाधारण है कि उसे हारे-थके और शिथिल रूप में भी देखकर सिल्यूकस के मुख से निकल जाता है—'यह तो कोई बड़ा श्रीमान् पुरुष है'? दांड्यायन के आश्रम में सिकंदर भी चकित होकर पूछता है—'यह तेजस्वी युवक कौन है'? इसी तरह पौरव (पर्व्वतेश्वर) की वीरता की प्रशंसा सिकंदर करता है। अलका के साहस पर प्रसन्न होकर उसने उसे भी देखने की इच्छा प्रकट की है। चाणक्य की नीति और दूरदर्शिता से अमात्य राक्षस बार-बार चकित होता है और सम्राट् होने पर यवन-सेनापति सिल्यूकस कहता है—'उस बुद्धिसागर, आर्य साम्राज्य के महामंत्री, चाणक्य को देखने की बड़ी अभिलाषा थी'। परंतु राष्ट्रीयता के भक्त होने के नाते, प्राचीन भारतीय गौरव की रक्षा करने के उद्देश्य से, विदेशी महत् चरित्रों को विशेषतारहित रूप में चित्रित करना और इस प्रकार अपनों के प्रति पक्षपात दिखाना, किसी भी उदार साहित्यिक के लिए प्रशंसा की बात नहीं है और फिर सहिष्णु तथा निर्लेप भारतीय संस्कृति और गौरव पर गर्व करनेवाले लेखक के लिए तो कदापि नहीं है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के सभी विदेशी वीर कुछ ऐसी गुणरहित प्रकृति के चित्रित किये गये हैं कि उनके प्रति

हम जरा भी आकर्षित नहीं होते। जिस जगद्विजेता सिकंदर ने भारतीय वीर पर्व्वतेश्वर के साहसपूर्ण शौर्य पर मुग्ध होकर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया था, वह इस नाटक में लूट, हत्या और भय द्वारा आतंक फैलानेवाले हृदयहीन योद्धा के रूप में सामने लाया गया है। और उसकी बुद्धिहीनता सिद्ध करने के लिए आंभीक, फिलिप्स, एनिसाक्रिटीज इत्यादि के सामने यवन-सेनापति सिल्यूकस 'अविवेकी' कहकर भर्त्सना करता है। लूट में मिली दारा की कन्या को उसने जबरदस्ती अपनी स्त्री बनाकर नृशंस लुटेरा होने का ही परिचय दिया है; तभी तो 'वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका साम्राज्ञी कहने से तिलमिला जाती है'।

यवन-सम्राट् की तरह ही यूनानी सेनापति सिल्यूकस का चरित्र भी विशेषतारहित है—विशेषतारहित ही क्यों, उसे तो 'प्रसाद' जी ने बिलकुल कायर और मूर्ख ही बना दिया है। सिहरण के सामने से वह भाग निकलता है और मालव के युद्ध में यह पूछे जाने पर कि तुम युद्ध चाहते हो या संधि, उत्तर देता है कि हम दोनों के लिए तैयार हैं जिसका संकेत यह हुआ कि युद्ध टल जाय और प्राण-भिक्षा मिल जाय तो अति उत्तम। मूर्ख वह इतना है कि अलका के लिए सिंहरण द्वारा दो बार 'राजकुमारी' का संबोधन सुनकर भी गांधार-नरेश के सामने काँपते हुए स्वर में कहता है - 'मुझे नहीं मालूम था कि ये राजकुमारी है'। दांड्यायन के आश्रम में जब सिकंदर उससे पूछता है—'तुम्हारा चंद्रगुप्त से परिचय कब हुआ'—तब सिल्यूकस का निरर्थक उत्तर है—'मैं इन्हें पहले से जानता हूँ'।

यवनों का दूसरा सेनापति फिलिप्स भी इसी प्रकार एक निर्लज्ज लंपट के रूप में हमारे सामने आता है जो एकांत में कार्नेलिया को पाकर, इधर-उधर देखकर, जबरदस्ती उसका कर चूमना और इस प्रकार अपने उस प्रणय का परिचय देना चाहता है, जिसे उसका हृदय पहचानता है। परंतु इसी क्षण जब चंद्रगुप्त आकर, उसे गर्दनिया देकर

धकियाता है, तो चुपचाप नतमस्तक वह चला भी जाता है। ऐनिसाक्रिटीज और मेगस्थनीज के चरित्र भी अनाकर्षक ही हैं। सारांश यह कि विश्व के इस महान विजेता और उसके निकटतम सहायकों को इस रूप में चित्रित करना कहाँ तक उचित था, वह विचारणीय है।

(१) प्रमुख पात्र-पात्रियाँ

चंद्रगुप्त

यह स्वातंत्र्य-प्रेमी युवक 'प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतंत्रता' की घोषणा करता हुआ मंच पर प्रवेश करता है। उसके स्वभाव में बालकों की-सी चपलता है और देश-प्रेम संबंधी उसका दृष्टिकोण संकुचित है। 'हम मागध है और यह (सिंहरण) मालव। अच्छा होता कि यहाँ गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते'—चंद्रगुप्त का यह कथन सीमित मनोवृत्ति का परिचय देकर दर्शकों को एक बार चौंका देता है; परंतु दूसरे ही पल अपने विचारों की व्याख्या करके, 'आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही जीवन है'—कह कर वह पाठकों की दृष्टि में अपने गौरवपूर्ण पद की रक्षा कर लेता है। भारत के भावी पतन के लिए चाणक्य को चिंतित देखकर उसका यह कहना—'यह चंद्रगुप्त आप के चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ भी न कर सकेंगे'—उसके असीम आत्मविश्वास का परिचायक है। यवनों को भारत में शांति से आगे न बढ़ने देना और 'प्रतिपद में बाधा देना' उसने अपना कर्तव्य निश्चित किया है और इसके लिए शक्ति भर वह प्रयत्न भी करता है। उसकी इच्छा है—'इस जगद्विजेता का ढोंग करनेवाले को एक बार पराजय का पाठ प ा दिया जाय' और बड़ी योग्यता से अपनी यह इच्छा वह पूरी भी करता है।

निर्भीकता उसकी बहुत बढ़ी-चढ़ी है। सिंहरण ने अकेले आंभीक

से निडर वार्तालाप किया और उस समय उसकी सहायता के लिए चाणक्य था, चंद्रगुप्त भी था और सम्भवतः, आवश्यकता पड़ने पर, अलका भी उसी के पक्ष में बोलती। चाणक्य ने मगध और पौरव के दरबार में निडर होकर जो वाक्य कहे, उनके मूल में देश-प्रेम और राष्ट्र-कल्याण भावना की ऐसी प्रभावशालिनी शक्ति थी जो अधिकांश श्रोताओं को अपने पक्ष में करने के गुण से युक्त है। परंतु यवन-शिविर में जाकर, यवन-सेनापतियों से और आंभीक जैसे देश-द्रोहियों से घिरे सिकंदर के सामने चंद्रगुप्त ने अत्यंत साहसपूर्वक जिस निर्भीकता का परिचय दिया है, वह कहीं अधिक महान् है और स्वयं सिकंदर भी उससे चकित रह जाता है। 'हमारी सेना तुम्हारी सहायता करेगी'—सिकंदर की गूढ़ार्थ भरी इस उक्ति को सुनते ही चंद्रगुप्त असीम आत्मविश्वास युक्त स्वर में उत्तर देता है—'मुझे आपसे सहायता नहीं लेनी है। मैं यहाँ यवनों को अपना शासक बनने को आमंत्रित करने नहीं आया हूँ। × × ×। मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आंभीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ; परंतु यवन-लुटेरों की सहायता से नहीं। × × ×। लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रण-कला का उपहास करना है'—निर्भीकता का कितना उत्तम परिचय इन वाक्यों से मिलता है! क्षुद्र-हृदय आंभीक यवन-सम्राट् के सामने चंद्रगुप्त को ऐसी बातें कहते सुनकर सलाह देता है—'शिष्टता से बातें करो'—और चंद्रगुप्त थप्पड़-सा उत्तर देता है—'स्वच्छ-हृदय भीरु कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य! देश द्रोही! आंभीक,! चंद्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकंदर के पास नहीं आया है'।

वीर वह इतना है कि यवन-सेनापतियों से घिरे रहने पर भी असाधारण वीरता दिखाकर सुरक्षित निकल जाता है। चाणक्य और सिंहरण जब दोनों उसे छोड़कर चले जाते, तब भी वह धैर्य और

साहस नही छोड़ता। युद्ध-क्षेत्र के समीप नायक और सैनिकों को उत्साहित करते हुए वीरोत्तेजक शब्दों में यह कहता है—'नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित नही हो सकते ? बोलो ! चंद्रगुप्त के नाम पर प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है। चंद्रगुप्त युद्ध करना जारता है। और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगलगान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ। मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ। चिंता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें। डर क्या ! सैनिको ! सुन लो, आज से मैं केवल सेनापति हूँ और कुछ नहीं ! जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो। कह देना कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण ! चंद्रगुप्त कायर नहीं है। जाओ'।

सेनापति का पुत्र होने के नाते कुशलतापूर्वक सैन्य-संचालन की सहज योग्यता उसमें है। मगध का इंद्रजालिक बनकर आतंकित यवन-सेना में नंद के पास लक्षाधिक सैनिक होने की बात कहकर वह विद्रोह फैला देता है। कल्याणी के साथ आयी हुई छोटी-सी मागध सेना को वह भुलावा देता है कि विपाशा पार करने पर मगध-साम्राज्य का ध्वंस करना यवनों के लिए बड़ा साधारण काम हो जायगा। और यवनों का विरोध करने के लिए मागध सैनिक जब तैयार हो जाते हैं तब समझाता है—'विपाशा और शतद्रु के बीच जहाँ अत्यन्त संकीर्ण भू-भाग है, वहीं अपनी सेना रखो और सिकंदर के सामने इतना विराट् प्रदर्शन होना चाहिए कि वह भयभीत हो जाय'। उधर सिंहरण को सुझाता है—'थोड़े से साहसी वीर मुझे चाहिएँ। यवनों की जल-सेना पर आक्रमण करना होगा; विजय के विचार से नहीं, केवल उलझाने और उनकी सामग्री नष्ट करने के लिए'।

६

मनुष्य का एक लक्षण है—उपकारी का कृतज्ञ होना और भारतीयों की प्रकृति में यह विशेषता जन्मजात समझनी चाहिए। यवन-सेनापति सिल्यूकस ने सिंह से चंद्रगुप्त की रक्षा की; इसलिए आमंत्रित किये

जाने पर चंद्रगुप्त निशंक होकर यवन-शिविर में बात करने चल देता है। पश्चात्, मालव-युद्ध में सिल्यूकस जब दोनों ओर से घिर जाता है और यवन-सेना के साथ सेनापति के प्राण भी संकट में पड़ जाते हैं, तब चंद्रगुप्त 'कृतज्ञता का भार' हलका करने के लिए उसको जीवनदान देता है।

उसकी न्यायप्रियता भी असाधारण ही समझी जानी चाहिए कि पिता को रुष्ट करने के लिए जिन गुरुदेव से वह उत्तर चाहता है उन्हीं को मारने के लिए जब पिता को प्रस्तुत पाता है, तब उन्हें भी न्याया-धीन घोषित करता और उनका न्याय करने को तत्पर होता है। इस अवसर पर पिता से अस्त्र ले लेने के लिए उसका सिंहरण को आज्ञा देना यह सूचित करता है कि इस प्रसंग में वह पर्याप्त गम्भीरता से अपना दायित्व समझ रहा है।

चंद्रगुप्त के चरित्र की एक अत्यंत प्रिय विशेषता है— हृदय की भावुकता पर उसका संयमयुक्त नियंत्रण। तक्षशिला से स्नातक होकर लौटने पर जब नंदकुमारी कल्याणी प्रेम के उपालंभ भरे स्वर में कहती है—'परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे'—तब चंद्रगुप्त सरल ढंग से बात बदल कर उत्तर देता है—'देवी, यह अनुचर सेवा के उपयुक्त अवसर पर ही आ पहुँचा। चलिए शिविका तक पहुँचा दूँ।' कुछ दिन बाद एक बार पुनः कल्याणी उसी चंद्रगुप्त को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है; उसके शब्द हैं—'(युद्धक्षेत्र में आयी हूँ) केवल तुम्हें देखने के लिए ! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मैं भी हूँ'। इस बार भी चंद्रगुप्त धैर्य से काम लेता है—'राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृति-लता मुरझा गयी है; समय नहीं !' इस प्रकार कल्याणी अपने प्रथम दो प्रयत्नों में विफल होती है। युद्धभूमि छोड़कर मगध लौटने के पूर्व एक बार पुनः चंद्रगुप्त के हृदय की थाह लेने के लिए

उसने पुछवाया—'आप कब तक मगध लौटेंगे' ? राजकुमारी का संकेत चन्द्रगुप्त समझ जाता है और उसका निश्चित उत्तर है—'मैं सेनापति का पुत्र हूँ, युद्ध मेरी आजीविका है' ।

सिंधकुमारी मालविका को मालवीय उद्यान में एकाकी पाकर चंद्रगुप्त के मन में न जाने क्यों और कैसी भावना जाग जाती है कि वह उस सरला बालिका से पूछ बैठता है—'मालविका, तुमको कुछ गाना आता है' । उत्तर में वह सचेत करती है—'युद्धकाल है, देश में रण-चर्चा छिड़ी है । आजकल मालव-स्थान में कोई गाता-बजाता नहीं' । और तभी सम्हलकर संयत स्वर में चंद्रगुप्त अपनी सफाई देता है—'रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ तो कोई हानि न होगी' । इस सीधे-सादे वाक्य का गूढ़ार्थ चंद्रगुप्त ने स्वयं आगे स्पष्ट कर दिया है—'शुभे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ' ।

बात यह है कि अवस्था-विशेष पर पहुँचकर मानव के भूखे हृदय में विलास की स्वस्थ वासना का स्वभावतः जन्म होता है । पशु में इस नैसर्गिक वृत्ति को दबाने की क्षमता नहीं होती और इसलिए जो व्यक्ति इस प्राकृतिक भूख के कारण जितना विकल हो जायगा, पशु-वर्ग से उसका उतना ही घनिष्ठ संबंध समझना चाहिए । दूसरे शब्दों में, ऐसे व्यक्ति में मानवीय संस्कारोचित संयम का अभाव रहेगा । परंतु निश्चित यह भी है कि अधिक समय तक संयम के बल पर यदि प्रकृति की इस पुकार को अधिकारपूर्वक अनसुना कर दिया गया तो हृदय विद्रोह करने लगता है । अतः संयम की स्थिति में मन को वासना से हटाकर दूसरी ओर टिकाने के लिए कोई आवश्यक और आकर्षक आधार चाहिए । यह शक्ति उसी समय तक बढ़ी रह सकेगी जब तक आधार का आकर्षण रुचिकर नवीनता लिये रहेगा; इसके अनाकर्षक होते ही, आधार के अभाव की ठोकर खाकर, भूखा हृदय सचेत होकर पुनः अपनी भूख के लिए हाहाकार कर उठेगा ।

यही स्थिति चंद्रगुप्त की है । कल्याणी जब उसकी ओर प्रेम का

प्रसाद लेकर सहर्ष और स्वतः बढ़ती है, तब कर्तव्य-भावना का उदय चंद्रगुप्त के भूखे हृदय को उसकी ओर से अपनी तरफ खींच लेता है। विदेशियों से युद्ध, दिग्विजय-प्रसंग में अनेक छोटे-बड़े राजाओं से युद्ध-देश के प्रति कर्तव्य के ये विभिन्न अंग जब तक उसे एकाग्र किये रहते हैं, कल्याणी के प्रेम का वह, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तिरस्कार ही करता है; और मालविका के इस भोले-भाले प्रश्न को—'मागध, तुमको देखकर तो मैं चकित हो जाती हूँ ! कभी इंद्रजाली, कभी कुछ ! भला इतना सुन्दर रूप तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है' ?—वह हँसकर टाल देता है, परवाह ही नहीं करता, कहता है—'तुम इन बातों को पूछ कर क्या करोगी' ? और इतना कह कर वह वहाँ से चला भी जाता है।

परन्तु कर्तव्य के इस आधार से ज्योंही उसका मन ऊब जाता है, उसका भूखा हृदय चिल्ला उठता है—'मैं सबसे विभिन्न, एक भय प्रदर्शन-सा बन गया हूँ, कोई मेरा अंतरंग नहीं'। मालविका आज भी उसके सामने है। आज वह स्वयं मालव-उद्यान वाले स्नेह मिलन की याद दिलाता है—'स्मरण आता है मालव का उद्यान और उसमें अतिथि-रूप में मेरा रहना' ? मालविका इस बार स्वयं सचेत है। पहली बार चंद्रगुप्त ने देशीय परिस्थिति की बात कहकर उसके सरल प्रेम की उपेक्षा की थी, आज वह सम्राट् की हार्दिक 'बिछलन' का परिचय पाकर उसे सचेत करना चाहती है—'सम्राट्, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं'। चंद्रगुप्त अपने को रोक नहीं पाता, कर्तव्य-पालन के नाम पर जिन संघर्षों में अब तक वह फँसा रहा, उनमें कोई आकर्षण शेष नहीं है। इसलिए मालविका की बात सुनते ही उसका हृदय बिलख उठता है—'संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो। मालविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभाव से द्वंद्व ! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी संपूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है। मालविका, तुम मेरी तांबूलवाहिनी नहीं

हो, मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं ! मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता'।

चन्द्रगुप्त की महानता से मालविका परिचित हो चुकी है और उक्त कथन से सम्राट् की 'साधारण जन-सुलभ दुर्बलता' भी वह देख लेती है। अपने को विश्वास-योग्य पाकर उसका हृदय प्रसन्नता से नाच उठता है और 'बहुत दिनों पर बनायी हुई माला' चन्द्रगुप्त को पहना कर वह संतुष्ट हो जाती है। पश्चात्, प्रियतम की प्रसन्नता के लिए 'स्वर मे स्वर्गीय मधुरिमा' भर, दो मधुर गीत गाकर मालविका अपने को धन्य समझती है। सम्राट् का अतृप्त मुग्ध हृदय मधुप और कली का प्रसंग आते ही कह उठता है—'मालविका ! मन मधुप से भी चंचलता और पवन से भी प्रगतिशील है; वेगवान है'। सिंध देश की सरल बालिका इस कथन का संकेतार्थ समझती और निश्चित परन्तु सीधे-सादे ढंग से उत्तर देती है—'मन का निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है'।

कल्याणी और मालविका के अतिरिक्त ग्रीककुमारी कार्नेलिया से चंद्रगुप्त ने प्रेम किया और कालांतर में यही उसकी पत्नी बनी। विवाह के पूर्व कई बार चन्द्रगुप्त की इससे एकांत में भेंट हुई, और उसे इस बात आभास भी हो जाता है कि कार्नेलिया मेरी ओर आकृष्ट है, परंतु किसी भी साक्षात् में इसने कोई ऐसा संकेत नहीं किया जिससे पता लगे कि इसके हृदय की 'महानता' कुछ झुकना चाहती है; अथवा 'मन की चंचलता का वेग' उसके नियंत्रण से बाहर हो रहा है। हाँ, मालव-युद्ध के पश्चात, संधि हो जाने पर, एक बार चंद्रगुप्त ने कार्नेलिया से इस बात पर प्रसन्नता प्रगट की है कि मैं विस्मृत-स्मृति को वह जीवन का पुरस्कार समझता हूँ'—नहीं हुआ; परन्तु ग्रीककुमारी के मुख से यह सुनकर—'परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ ! स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर दंड हो जाती हैं। अतीत के कारागृह में बंदिनी स्मृतियाँ अपने करुण

विश्वास की शृंखलाओं को झनझनाकर सूचीभेद्य अंधकार में सो जाती है'—उसके शब्दों के गूढ़ार्थ को न समझ कर वह कह जाता है—'ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे ! इस केन्द्र-च्युत जलते हुए उल्कापिंड की कोई कक्षा नहीं। निर्वासित, अपमानित प्राणों की चिंता ही क्या'—चंद्रगुप्त का यह कथन कार्नेलिया के प्रति उसके आकृष्ट होने का परिचायक तो है, परन्तु अस्वस्थ और अनियंत्रित हृदय का वासनाजनित उद्‌गार कदापि नहीं।

चाणक्य

तक्षशिला विश्वविद्यालय का स्नातक, जिसके 'दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आंधी चला देने की कठोरता भी है', निर्धनता के कारण गुरु-दक्षिणा-रूप में विश्वविद्यालय के भावी स्नातकों को वह एक वर्ष तक अर्थशास्त्र की शिक्षा देता है। व्याख्या की दृष्टि से अर्थशास्त्र के संकुचित अर्थ को स्वीकार न करके व्यावहारिक जीवन में सामाजिक राजनीति पर दृष्टि रखना ही वह अर्थशास्त्र-शिक्षा का सच्चा प्रयोग समझता है। मगध के बंदीगृह में उसने कहा भी है—'कात्यायन ! अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा। अर्थशास्त्र और दंडनीति की आवश्यकता है।..... मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं है'।

सतर्कता, स्वाभिमान, दूरदर्शिता और गौरवमय गम्भीरता, चाणक्य के इन चार महान गुणों का परिचय हमें नाटक के प्रथम दृश्य, में ही मिल जाता है। तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की बात सिंहरण के मुख से सुनते ही सतर्क होकर शिक्षकोचित प्रश्न करके उसकी परीक्षा लेता है—'जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं ?' भावी गांधार-नरेश आंभीक के गर्वपूर्ण प्रश्न—'बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन'—का उत्तर स्वाभिमान-भरे स्वर में देता है—'राजकुमार,

ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।' उसे अपने ब्राह्मणत्व पर अभिमान है और उसका दृढ़ विश्वास है कि अविश्वासी क्षत्रियों के संकीर्ण विचारों का ही यह कुफल है जो 'दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य-जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है'।

आवेश में आकर उद्धत स्वभाववाले आंभीक के तलवार चला देने पर भी वह अपनी गौरवयुक्त गम्भीरता से राजकुमारी को आज्ञा देता है—मैं गुरुकुल का अधिकारी हूं। मैं आज्ञा देता हूं कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा ले जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिए होता है, द्वंद्वयुद्ध के लिए नहीं। विश्वास रखना, इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।' देश की स्थिति का वह पूर्ण जानकार है और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाँति चन्द्रगुप्त को समझाता है—'तुम लोगों को समझकर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा ..... । आगामी दिवसों में आर्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे।' मगध-अमात्य राक्षस का यह प्रश्न 'तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त प्रणिधि बनकर जाना चाहते हो या मृत्यु'—सुनते ही अपनी दूरदर्शिणी बुद्धि से उसका आशय समझ जाता है और निर्भीक स्वर में उत्तर देता है—'जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं और सुनो, पर्व्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।' तक्षशिला में शिक्षण-कार्य समाप्त करने के बाद मगध लौटने पर शकटार और अपने पिता की दुर्दशा की कथा सुनकर वह क्षोभ भरे स्वर में कहता है—'दो दो कुटुम्बों का नाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है। क्या इसीलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य

ने किया था' ? चाणक्य के क्षोभ का यह रूप उसके कार्यक्रम की भावी गतिविधि का नियंत्रण करता है ।

निर्भीकता चाणक्य के चरित्र की ऐसी विशेषता है जिसका परिचय हमें प्रत्येक कथन से मिलता है और ब्राह्मण के गौरव का प्रश्न आ जाने पर उसकी उत्तेजना और भी बढ़ जाती है । गांधारराज आंभीक को फटकारने के बाद मगध-सम्राट् नन्द के दरबार में भी वह बिना सूचना दिये पहुँच जाता है । बौद्धों के पक्षपाती अमात्य राक्षस का विरोध वह भरे दरबार में करता है और काफी जोरदार शब्दों में । उत्तेजित होकर सम्राट् नन्द जब उसका अपमान करता है तब चाणक्य निर्भीकता से उसे सावधान करते हुए कहता है – 'नन्द, तुम्हारी धर्मांधता-प्रेरित राजनीति आँधी की तरह चलेगी; उसमें नन्द-वंश समूल उखड़ेगा । नियति सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है । समय आ गया है कि शूद्र राज-सिंहासन से हटाये जायँ, और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों ।' अपना-कार्य साधने के लिए पर्व्वतेश्वर को वह प्रलोभन देता है —'निरुपाय हूँ, लौट जाऊँगा । नहीं तो मगध की लक्षाधिक सेना आगामी यवन-युद्ध में पौरव की पताका के नीचे युद्ध करती—वही मगध, जिसने सहायता माँगने पर पंचनद-नरेश का तिरस्कार किया था' । परन्तु ज्यों ही पर्व्वतेश्वर व्यंग्यपूर्वक उसका तिरस्कार करता है त्योंही उसको सभा में ही डाँट देता है – 'भविष्य इसका विचार करेगा कि ऋषि किन्हें कहते हैं । क्षत्रियाभिमानी पौरव ! तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते । ..... । और स्मरण रखना, आसन्न यवन-युद्ध में, शौर्य-गर्व से तुम पराभूत होगे । यवनों के द्वारा समग्र आर्यावर्त्त पादाक्रांत होगा । उस समय तुम मुझे स्मरण करोगे' ।

मगध-सम्राट् नंद की आज्ञा से बंदी किये जाने पर बंदीगृह की निष्ठुर यंत्रणा की कठोरता से वह तिलमिला तो जाता है, परन्तु दया की भिक्षा नहीं माँगता । राक्षस और वररुचि, दोनों के प्रस्तावों को

तिरस्कारपूर्वक ठुकराकर उसने प्रण किया है—'आज से मैं प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूंगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा ? हाँ, हाँ, कभी किसी पर नहीं। मैं प्रलय के समान अबाधगति और कर्तव्य में इन्द्र के वज्र के समान भयानक बनूँगा'। जीवन भर चाणक्य अपने इस निश्चय पर अटल रहता है।

साधन के अभाव में बढ़ी हुई विरोधी शक्ति का सामना शक्ति से नहीं, युक्ति से किया जाता है। यही राजनीति है। चाणक्य इसे समझता है। सिकन्दर और पोरव के युद्ध में यह सोचकर कि भारतीय वीरों की हानि होगी, यह चन्द्रगुप्त और सिंहरण को जूझ जाने की सलाह नहीं देता। चारों ओर कठिनाइयाँ हैं, कहीं कोई सहारा नहीं; और उनसे परेशान होकर सिंहरण कह जाता है—'विपत्तियों के बादल मँडरा रहे हैं'—और तभी एक कुशल नीतिज्ञ की भाँति चाणक्य उसे समझाता है—'पौधे अंधकार में बढ़ते हैं और मेरी नीति-लता भी उसी भाँति विपत्ति-तम में लहलही होगी। हाँ, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा'।

राजनीति की दूसरी धारा यह है कि दाँत में सोना दबाकर शत्रु का नाश नहीं किया जाता। साम, दाम, दंड, भेद, किसी भी रीति से विजय मिले, यही लक्ष्य रहना चाहिए। महाभारत के भयंकर युद्ध में पांडव-पक्ष की विजय का मूल कारण श्रीकृष्ण की यही नीति थी। चाणक्य भी 'सिद्धि देखता है; साधन चाहे कैसे ही हों'। इसीलिए चंद्रगुप्त और सिंहरण-जैसे अद्वितीय वीरों को नट और सँपेरा बनाकर भी पर्व्वतेश्वर को यवनों से पराजित हो जाने देता है। मालवों की युद्ध-परिषद् को गणराष्ट्र की पक्षपातिनी जानकर समझाता है—'चंद्रगुप्त को यदि तुम लोग अपना सेनापति बना लोगे तो मालव और क्षुद्रक दोनों ही स्वतंत्र संघ हैं और रहेंगे। संभवतः इसमें प्राच्यों का एक गणराष्ट्र आगामी दिनों में और आ मिलेगा'। कल्याणी मगध लौटना चाहती है तो इस भय से कहीं मगध सेना वह अपने साथ वापस न ले जाय, उसे

चंद्रगुप्त के प्रेम का प्रलोभन देकर पूछता है—'चन्द्रगुप्त से क्या कह दिया जाय ? .....'। उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा'। इसी प्रकार राक्षस को रोकने के उद्देश्य से समझाता है—'यवनों को भ्रम में डालने के लिए क्षुद्रकों, मालवों और मागधों की सेना के प्रदर्शन से जिन विदेशियों को भयभीत किया है, उनका भ्रम बनाये रखने में ही मगध-साम्राज्य का कल्याण है'—और उसकी उक्ति सुनकर अमात्य राक्षस को कहना ही पड़ता है—'आह ब्राह्मण ! मैं स्वयं रहूँगा। यह तो मान लेने योग्य सम्मति है'। कुछ देर बाद राक्षस को एकांत में पाकर वह बताता है—'नन्द को अपनी प्रेमिका सुवासिनी से तुम्हारे अनुचित संबंध का विश्वास हो गया है। अभी तुम्हारा मगध लौटना ठीक न होगा'। और इस तरह वह मगध लौटने की इच्छा बहुत समय के लिए मन से निकालने पर राक्षस को विवश कर लेता है। अपने कथन की पुष्टि के लिए एक दिन अपने ही सैनिकों को मागधों के रूप में भेजकर राक्षस को बन्दी कराना चाहता है और दूसरे दल द्वारा उसकी रक्षा करा लेता है। राक्षस इस आयोजन को सत्य समझकर चाणक्य का कृतज्ञ होता है और भुलावे में आकर उसे अपनी अँगूठी दे देता है जिसकी सहायता से जाली पत्र लिखकर मगध-सम्राट् नंद को अमात्य राक्षस के विरुद्ध करने में उसे पूरी सफलता मिलती है।

परिस्थिति का धीरतापूर्वक अध्ययन करके, परिणाम के संबंध में दृढ़ हो जाना आत्मविश्वास की पराकाष्ठा समझी जाती है। राजनीति की अनिश्चित फलवाली घटनाओं के विषय में चाणक्य का आत्मविश्वास इसी सीमा तक पहुँचा हुआ है। 'महानगरी कुसुमपुर का ध्वंस और नंद की पराजय' की संभावना की शंका जब अलका करती है तब चाणक्य का विश्चित उत्तर है—'अलके ! चाणक्य अपना कार्य अपनी बुद्धि से साधन करेगा। तुम देखती भर रहो और जो मैं बताऊँ, करती

चलो'। इसी प्रकार कात्यायन से भी आत्मविश्वास-भरे स्वर में उसने कहा है —'वह तो होकर रहेगा जिसे मैंने स्थिर कर लिया है। वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है ! फिर मैं क्या करूँ' ?

'प्रसाद' जी की एक प्रिय विशेषता यह है कि मगधकुमारी कल्याणी के आत्महत्या कर लेने पर निष्ठुरता की चरमावस्था-रूप यह वाक्य-- 'चद्रगुप्त ! आज तुम निष्कंटक हुए'—कहनेवाले क्रूर चाणक्य की आंतरिक कोमलता का पता भी वे हमें नाटक में दे देते हैं। तक्षशिला से लौटने पर मगध की पुरानी स्मृतियाँ उसके सामने नाच उठती हैं। यवन-सेना का प्रथम आक्रमण विफल करने के पश्चात् कुसुमपुर को ध्वंस करने के लिए जब वह पुनः अपने जन्मस्थान में प्रवेश करता है तब भी उसे याद आ जाता है कि यहीं मेरे जीवन का प्रभात हुआ था।

सुवासिनी उसकी बाल-सहचरी है। चाणक्य को सूचना मिली है कि उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर नंद की रंगशाला में प्रवेश कर लिया है। इसलिए सुवासिनी को देखते ही साधारण मानवीय दुर्बलता-परिचायक क्षोभयुक्त व्यंग्य करता है-- 'चलो, वारविलासिनियों के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी'। परन्तु आगे चलकर वह स्वयं सम्हलता है। उसे ज्ञात है कि पति-पत्नी-भाव से राक्षस-सुवासिनी का प्रेम विकसित हो चुका है। अतः अपनी प्रेमिका के सुख-संतोष और अपनी भाव-शांति के लिए अद्भुत संयम से वह काम करता है और स-हठ राक्षस का वरण करने के लिए सुवासिनी को विवश करता है। वासनायुक्त मानव-हृदय पर त्यागयुक्त संयम की यह कितनी महत्वपूर्ण विजय है !

व्यक्ति के कार्यों और विचारों की सार्थकता इसी में है कि पक्ष-विपक्ष के सभी सम्मानित सदस्य सतत उसकी प्रशंसा करें। चाणक्य को इस तरह की सबसे अधिक सफलता मिलती है। मगध-अमात्य राक्षस उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वंद्वी है और उसी ने बार-बार चाणक्य की

प्रशंसा की है। मगध को बचाने के लिए यवनों को अटकाये रखने की उसकी योजना को सुनकर कल्याणी से राक्षस कहता है—'मैं इसका मुँह भी नहीं देखना चाहता; पर इसकी बातें मानने के लिए विवश हो रहा हूँ'। आगे चलकर यवन-पराजय की कहानी सुनने पर उसके मुख से स्वतः निकल पड़ता है—'चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूटराजनीति के साथ दिनरात जैसे खिलवाड़ किया करती है। × × × । चाणक्य ! तू धन्य है ! मुझे ईर्ष्या होती है।'

चाणक्य का दूसरा विरोधी पर्व्वतेश्वर है जिसने चन्द्रगुप्त के क्षत्रियत्व के सम्बन्ध में शंका करके ब्राह्मणत्व की हँसी उड़ायी थी। यवनों द्वारा आर्यावर्त को पददलित होते देख वह भी स्वीकारता है—'ब्राह्मण, तुम्हारी बात सच हुई। मैं गर्व से भूला था। तुम्हारी बात न मानी। अब उसी का प्रायश्चित करने जाता हूँ। × × × । यह नृशंसता की बाढ़ उतारना आप ही का काम है'।

विपक्ष के जिन व्यक्तियों से हमारा परिचय होता है उनमें यवन सेनापति और विश्व-विजेता सिकन्दर मुख्य है। दोनों ने ही प्रखर-बुद्धि चाणक्य की प्रशंसा करके अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया और अपने साथ भारत का भी महत्व बढ़ाया।

सिंहरण

मालवगण-मुख्य का यह कुमार साहसी, उत्साही और निर्भीक है। यों तो 'विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र' है; फिर उसे 'तक्षशिला की शिक्षा का गर्व भी है।' उसके 'मनोबल में स्वतन्त्रता है और उसकी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त के रक्षण की शक्ति है। अपनी शिक्षा-संबंधी असावधानी के लिए जहाँ वह गुरुदेव चाणक्य से क्षमा-याचना करके अपनी निर्भीकता का परिचय देता है, वहीं तक्षशिला के क्रुद्ध राजकुमार आंभीक के मुख से 'बताना होगा, मेरी

आज्ञा है' सुनते ही निर्भीक स्वर में कहता है—'गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य होती है; अन्य आज्ञाएँ—अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं'। अध्ययन की गम्भीरता अपने में लाने की वह चिंता नहीं करता और स्वीकारता है—'मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अस्त्रशास्त्र की।' और देश की सामयिक स्थिति की उसकी जानकारी भी दूरदर्शितारहित नहीं है। 'तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की' उसे आज्ञा मिलती है और इसका पालन यह स्वाभिमानी युवक बड़ी रुचि और उत्साह से करता है। वह लक्ष्य करता है कि आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खंड-राज्य द्वेष से जर्जर हैं। यवनों से मिलकर देश की स्वतन्त्रता संकट में डाल देनेवाले तक्षशिलाधीश के कुचक्र से भी वह परिचित हो गया है और सच्चे देशभक्त की तरह गांधार के इस पतन को वह 'अपना अपमान' समझता है। 'मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है'—राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत उसका यह कथन कितना महत्वपूर्ण है! निर्भीक यह युवक इतना है कि भावी गांधार-नरेश आंभीक को सामने पाकर भी व्यंग्य करता है—'कुचक्र वे ही कर सकते हैं जनका स्वार्थ समुद्र से भी विशाल और सुमेर से भी कठोर हो, जो यवनों की मित्रता के लिए स्वयं वाह्लीक तक गये थे। × × × यवनाक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से जो पुलकित हो रहे हों, आर्यावर्त की सुख-रजनी की शांति-निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने की जिनकी योजना हो और जिनका खड्ग-कोश (पुष्कल) स्वर्ण से भर गया है'। भयंकर युद्ध से भी वह जरा भयभीत नहीं होता। रण-लक्ष्मी का स्वागत करते हुए वह कहता है—'एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लौह-अस्त्रागार में घुस कर विस्फोट करेगा। चंचला रण-लक्ष्मी इंद्रधनुष की विजय-माला हाथ में लिए उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय जलद में

विचरण करेगी और वर-हृदय मयूर-से नाचेंगे। तब आओ देवि, स्वागत'। सिकंदर का दूत आकर सूचना देता है—'देव-पुत्र की आज्ञा है कि मालव-नेता मुझसे भेंट करें, और मेरी जल-यात्रा की सुविधा का प्रबन्ध करें'; इसके उत्तर में बड़ी निर्भीकता से सिंहरण कहला देता है—'सिकंदर से मालवों की ऐसी कोई संधि नहीं हुई है, जिससे वे इस कार्य के लिए बाध्य हों। हाँ, भेंट करने के लिए वे सदैव प्रस्तुत हैं, चाहे संधि-परिषद् में या रणभूमि में।' उसकी यह निर्भीकता निश्चय ही अभिनन्दनीय है।

आत्माभिमान की भी इस वीर युवक में कमी नहीं है और उसे पूर्ण विश्वास है—'वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा। साहसी वह इतना है कि यवन सेनापति सिल्यूकस को मानचित्र की चाह करते और तलवार निकालते देख स्वयं भी प्रस्तुत होकर उत्तर देता है—'मानचित्र के अधिकारी का निर्वाचन खड्ग करेगा, सावधान हो जाओ'। वीरता में यह किसी देशी-विदेशी वीर से कम नहीं है। मालव-दुर्ग में सिकंदर को इसने बुरी तरह घायल किया है और इतिहासकारों का मत है कि यही घाव सिकंदर की असामयिक मृत्यु का कारण हुआ। उसका देशभक्त युवकोचित आदर्श है—'जन्मभूमि के लिए यह जीवन है' और शक्तिभर वह इस अनुकरणीय लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

भारतीयता की भावना इस वीर में बड़ी सशक्त है। मालव-दुर्ग में यवन-सम्राट् सिकंदर को घायल करके भी यवन-सैनिकों को आज्ञा देता है कि इसे उठा ले जाओ। मालव-सैनिक जब इसका विरोध-सा करते हैं क्योंकि 'उस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है' और प्रतिशोध के लिए उत्तेजित हो जाते हैं तब सिंहरण उन्हें यह कह कर शांत करता है—'ठहरो, मालव-वीरो, ठहरो। यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था; पर्व्वतेश्वर के प्रति उदारता

दिखाने का यह प्रत्युत्तर है'। भारतीय गौरव-वृद्धि की दृष्टि से सिंहरण के प्रतिशोध का यह रूप कितना महान् और चमत्कारपूर्ण है !

व्यक्ति की परीक्षा विपत्ति में होती है और यदि प्राण-संकट उपस्थित हो जाय तब मनुष्य किस धातु का बना है, इसकी परीक्षा बहुत शीघ्र ही हो जाती है। सिंहरण के सामने भी एक बार यही स्थिति आती है। मालव दुर्ग का द्वार टूट चुका है और यवन-सेना भीतर आती है। सिंहरण अपने चुने हुए सैनिकों के साथ भीतर घिर गया है। बाहर से किसी तरह की सहायता मिलने की आशा नहीं है। अतः निश्चित-सा है कि सभी मालव वीरों के साथ वह मारा जायगा; परन्तु सिंहरण इससे विचलित नहीं होता। इस स्थिति का सामना करने को वह सहर्ष तैयार हो जाता है। 'मालव के ध्वंस पर आर्यों का यश-मंदिर ऊँचा खड़ा हो सकेगा'—प्रमिका अलका से सांत्वना-रूप में कहे गये ये शब्द कितने महत्व के हैं ! सैनिकों को वह उत्साहित करता है—'कुछ चिन्ता नहीं, दृढ़ रहो। समस्त मालव सेना से कह दो कि सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा। ऐसे वीर और साहसी युवक के रहते किसी भी देश की स्वतन्त्रता संकट में कैसे पड़ सकती है ? और अलका के स्वर में स्वर मिलाकर हमको कहना पड़ता है—'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है'।

सिंहरण के हृदय-पक्ष की कोमलता की ओर भी नाटककार ने संकेत किये हैं। प्रथम दृश्य में अलका के 'स्नेहानुरोध' की रक्षा के उद्देश्य से ही वह तक्षशिला छोड़ने को प्रस्तुत होता है। आगे चलकर यही अलका उसकी प्रेयसी बनती है। दोनों के पारस्परिक आकर्षण का पता निम्नलिखित कथोपकथन से लगता है—

अलका—आंभीक ने यह जानकर भी कि मैं यहाँ बंदिनी हूँ, मुझे छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। उसकी भीतरी इच्छा थी कि पर्वतेश्वर की कई रानियों में से एक मैं भी हो जाऊँ ! परन्तु मैंने अस्वीकार कर दिया।

सिंहरण—अलका, तब क्या करना होगा ?

अलका—यदि मैं पर्व्वतेश्वर से विवाह करना स्वीकार करूँ तो सम्भव है कि तुमको छुड़ा दूँ ।

सिंहरण – मैं ·· ····अलका ! मुझ से पूछती हो ।

अलका - दूसरा उपाय क्या है ?

सिंहरण— मेरा सिर घूम रहा है । अलका ! तुम पर्व्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी ! अच्छा होता कि इससे पहले ही मैं न रह जाता ।

अलका—क्यों मालव, इसमें तुम्हारी क्या हानि है ?

सिंहरण—कठिन परीक्षा न लो अलका ! मैं बड़ा दुर्बल हूँ । मैंने जीवन और मरण में तुम्हारा संग न छोड़ने का प्रण किया है ।

अलका—मालव, देश की स्वतन्त्रता तुम्हारी आशा में है ।

सिंहरण—और तुम पचनद की अधीश्वरी बनने की आशा में···· तुम मुझे रणभूमि मे प्राण देने की आज्ञा दो ।

अलका—(हँसती हुई) चिढ़ गये । आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि थोड़ी देर पंचनद का सूत्र-संचालन करने के लिए मैं यहाँ की रानी बन जाऊँ ।

सिंहरण—यह भी कोई हँसी है ?

अलका—बंदी ! जाओ सो रहो, मैं आज्ञा देती हूँ ।

सिंहरण के प्रति अलका के आकर्षण का पता प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही मिल जाता है । उक्त संवाद में वह सिंहरण के हृदय की भी थाह ले लेती है और चतुराई से 'जीवन-मरण मे साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा भी करा लेती है । पश्चात् हँसकर' उसके हृदय का भार हल्का कर देती ह और 'आज्ञा देकर' निकटतम आत्मीय का प्रतिष्ठित पद, निश्चित होकर, स्वीकार कर लेती है ।

कल्याणी

'प्रसाद' जी चित्रित प्रधान-स्त्री-पात्रों के चरित्र में सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि उनका प्रेम वासना की पूर्ति के लिए नहीं होता। प्रेममय स्मृति की कसक को उन्होंने अत्यन्त आवश्यक प्राकृतिक नियम के रूप में देखा, परन्तु उन्माद और प्रलाप से उसे सदैव पृथक रखा है। उनके पुरुष-पात्र तो क्या अधिकांश स्त्रियाँ भी आदर्श प्रेम ही रखती हैं। अपने प्रेमी के संकेतमात्र पर अपनी समस्त अभिलाषाओं को कुचलकर, समस्त आवेगों और उद्गारों को अपनी एक मधुर मुस्कान से छिपाकर, ठीक वैसे ही जैसे सागर की अगाध गम्भीरता छाती में बड़वानल छिपाये रहती है, हृदय में उठनेवाले भीषण आंतरिक द्वंद्वों के तूफान-रूपी आँसुओं को वे इस तरह पी जाती हैं कि पाठक आश्चर्य-चकित और प्रभावित होकर उनके मुख की ओर न देखकर उनके श्री-चरणों की ओर निहारने लगता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे अपने सुन्दर मनोराज्यों में विचरण नहीं करतीं, अथवा भविष्य के सुन्दर सुख-स्वप्न नहीं देखतीं, वरन् यह कि यह सब होते हुए भी अवसर पड़ने पर स्वयं ही हँसते-हँसते वे अपनी लालसाओं को मसल देती हैं। एक शब्द में, उनका प्रेम संयत और अत्यन्त त्यागपूर्ण होता है। अतीत की मधुर स्मृति उनके हृदय में गुदगुदी अवश्य किया करती है, पर उसके वशीभूत हो वे आत्म-विस्मृत नहीं हो जातीं। यही उनके चरित्र की विशेषता है।

कल्याणी का स्थान भी 'प्रसाद' जी चित्रित ऐसी ही प्रेमिकाओं में है। यद्यपि 'प्रसाद' जी ने नाटक की संकेतात्मक शैली के कारण चन्द्रगुप्त और उसके प्रेम की स्पष्ट व्याख्या नहीं की, तथापि यह मानना होगा कि उसके चरित्र का विकास अत्यन्त मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक ढंग से हुआ है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि उसका चरित्र आदर्श बनाने की ओर 'प्रसाद' जी का उतना ध्यान अथवा प्रयास नहीं है जितना उसकी प्रकृति की स्वाभाविक दुर्बलता से हमें परिचित कराने की ओर।

कल्याणी मगध के विलासी राजा की सरल विचारवाली कन्या है।

उसका हमसे परिचय नाटककार ने प्रथम अंक के चौथे दृश्य में कराया है, जब वह पिता की शासन-नीति से दुखी होकर अपनी सखी से कहती है—महाराज के उद्यान में भी लताएँ ऐसी हरी-भरी नहीं, जैसे राज—आतंक से वे भी डरी हुई हों। सच नीला, मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता, डरते भले ही हों। × × × देखती हूँ कि समस्त प्रजा उनसे त्रस्त और भयभीत रहती है। प्रचंड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है।' उसके शांत होते ही मगध के दो ब्रह्मचारी अपने शासक के अत्याचारों की निन्दा करते हुए आते हैं। उनके मुख से अपने पिता की निन्दा सुनकर एक ओर तो वह अत्यन्त भोलेपन से कहती है—'मैं देखती हूँ कि महाराज से कोई स्नेह नहीं करता' और दूसरी ओर जैसे विरक्त होकर, अथवा 'प्रसाद' जी के व्यक्तिगत दार्शनिक विचारों से प्रभावित होकर, प्रश्न-रूप में उसके मुख से निकल पड़ता है—'इतना कदर्थित राजपद! जिसे साधारण नागरिक भी घृणा की दृष्टि से देखता है, कितने मूल्य का है'?

उक्त वाक्यों के कहलाने का उद्देश्य कल्याणी के विचारों से हमें परिचित कराना मात्र है। इसी प्रकार आगे भी जब कल्याणी को नीच जाति के दुराचारी राजा की कन्या समझकर पंचनद-नरेश पर्व्वतेश्वर उससे विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता, तब भी आवेश में आकर वह कहने लगती है - 'पिता जी, मैं पर्व्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल कन्या हूँ—उस क्षत्रिय को यह दिखला दूँगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से नहीं। सेनापति को आज्ञा दीजिए कि आसन्न गांधार-युद्ध में मगध की एक सेना अवश्य जाय और मैं स्वयं उसका संचालन करूँगी। पराजित पर्व्वतेश्वर को सहायता देकर उसे नीचा दिखाऊँगी'। कल्याणी के इस आवेशपूर्ण उद्गार से हमें चकित न होना चाहिए। यह उद्गार ऐसी कोमल और सरल स्वभाव की युवती के हैं जो मदारी को साँप का खेल दिखाते देखकर ही भोले

भाव से कह उठती है—'बड़ा कौतुक है महाराज ! इन नागों को ये लोग किस प्रकार वश में कर लेते हैं'।

बात यह है कि भारतीय नारी का हृदय कुसुम से भी कोमल होता है और पत्थर से भी कठोर – यों वह सदैव भोलीभाली है, सरल हृदया है और छल-प्रपंच से अनभिज्ञ है, पर यदि अवसर आ पड़ता है तब वह अपने हाथ से ही अपने पति और पुत्र तक के अपमान का बदला लेने के लिए, आत्मगौरव और सम्मान की रक्षा तथा अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए, स्वयं ही जीवन-संबंध-विच्छेदन को कटिबद्ध हो जाती है। भारत के मध्यकालीन इतिहास में अनेकानेक स्त्रियों के बलिदान के गौरवपूर्ण और अमर वर्णन मिलते है। राज-स्थान के इतिहासकार टाड साहब ऐसे स्त्री-चरित्रों से बड़े प्रभावित हुए थे। कल्याणी का उक्त उद्गार बहुत-कुछ इसी श्रेणी का है, परंतु उसमें स्वाभाविकता अधिक है, आदर्श और अपमान का ध्यान कम। इसी लिए वह पर्व्वतेश्वर के पास युद्ध स्थल में पहुँचकर भी निराश होकर लौट आती है। संभवतः उसके चरित्र से संबंध रखनेवाली यह घटना कुछ पाठकों को जटिल और विषम जान पड़ेगी।

कल्याणी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है। मगध के मौर्य सेनापति के जिस पुत्र के साथ उसने अपनी बाल्यावस्था के बहुत से दिन बिताये थे, वयस्क होने पर उसी चंद्रगुप्त से प्रेम हो जाना स्वाभाविक ही है। जब चंद्रगुप्त लगभग पाँच वर्ष के लिए तक्षशिला में विद्याध्ययन करने जाता है तब कल्याणी उसकी मधुर स्मृति को लेकर सुनहले स्वप्न देखा करती है और एक दिन चंद्रगुप्त के आने पर तथा उसके मुँह से ये शब्द सुनकर—'देवि, तक्षशिला में पाँच वर्ष रहने के कारण यहाँ के लोगों को पहचानने में विलंब होता है। जिन्हें किशोर छोड़कर गया था अब वे तरुण दिखायी पड़ते हैं। मैं अपने कई सहचरों को भी न पहचान सका'—कल्याणी अत्यंत उत्सुकता से पूछती है—'परन्तु मुझे आशा थी कि तुम मुझे न भूल जाओगे'।

नाटककार ने कल्याणी के इस उद्‌गार का चंद्रगुप्त से कोई उत्तर नहीं दिलाया। पर कल्याणी का आशय पूरा हो जाता है। वह चंद्रगुप्त को अपने विचारों से अवगत करा देती है। वह अपनी प्रीति गुप्त रखना चाहती हो, सो बात भी नहीं है। दरबार में जब उसका पिता चंद्रगुप्त से नाराज होता है तब उसकी रक्षा के लिए उसी का पक्ष लेकर वह अपने पिता से अनुरोध करती है - 'पिताजी, चंद्रगुप्त पर ही दया कीजिए। एक बात उसकी भी मान लीजिए', इसी प्रकार युद्धक्षेत्र में जब वह पर्व्वतेश्वर को नीचा दिखाने के लिए जाती है और वहाँ चंद्रगुप्त उसको देखकर कहता है 'राजकुमारी का युद्धक्षेत्र में आना अनोखी बात है'—तब कल्याणी स्पष्ट कह देती है—'केवल तुम्हें देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे'।

अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिए कल्याणी ने ऊपर जो वाक्य कहे हैं उनमें मानव जीवन की प्रकृति का एक रहस्य निहित है। प्रीति करनेवाला सामान्यतः सदैव यही चाहता है कि किसी प्रकार अपने प्रिय व्यक्ति को अपनी प्रीति का परिचय दे दूँ; साथ ही वह यह भी जानना चाहता है कि उसका प्रिय व्यक्ति उससे प्रेम करता है या नहीं। पहली बात अर्थात् अपनी प्रीति को संकेतों, कार्यों-व्यापारों अथवा वचनों द्वारा व्यक्त करना तो मनुष्यमात्र के अधिकार में रहता है, पर प्रिय व्यक्ति उससे प्रेम करता है या नहीं, यह जानना और यदि वह प्रेम नहीं करता तो उसके हृदय में अपने प्रति प्रेम उत्पन्न करना, सर्वथा उसके अधिकार की बात नहीं होती। कल्याणी भी पहला कार्य कर लेती है, पर उसे यह ज्ञात नहीं हो पाता कि चंद्रगुप्त भी उससे प्रेम करता है या नहीं। इस प्रकार की अनभिज्ञता की दशा में प्रायः दो बातें हुआ करती हैं। यदि प्रेम करनेवाला सच्चा प्रेम नहीं करता अथवा उसमें धैर्य नहीं होता तब वह अपने प्रिय व्यक्ति से अपने प्रेम का प्रत्युत्तर न पाकर या तो बेचैन हो जाता है या अपने जीवन से

निराश। इसके विपरीत, यदि उसका प्रेम सच्चा हो तो वह प्रेमी के प्रेम का परिचय पाने को उत्सुक तो थोड़ा-बहुत रहता है, पर यदि उस का कोई चिह्न नही पाता, तब भी बेचैन अथवा निराश नही होता, प्रत्युत उसका प्रेम नित्यप्रति दृढ़ होता जाता है। कल्याणी का प्रेम प्रायः ऐसा ही है। बहुत समय तक उसको चद्रगुप्त के प्रेम का स्पष्ट परिचय नही मिलता। इस पर भी न तो कल्याणी अधीर होती है और न निराश। अंत में उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है। चद्रगुप्त उसके सामने अपनी परिस्थिति स्पष्ट कर देता है। कल्याणी कहती है - मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणो मे एक मै भी हूँ।

चद्रगुप्त—परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला मे स्मृति- लता मुरझा गयी है।

कल्याणी—चद्रगुप्त!

चद्रगुप्त—राजकुमारी! समय नही।

इस वार्तालाप मे चद्रगुप्त के विषय मे उसकी परिस्थिति साफ हो जाती है कि वह उससे प्रेम अवश्य करता है, पर देश के राजनीतिक झंझटो मे वह इतना व्यस्त है कि उस ओर ध्यान देने को उसके पास समय नही। दूसरी ओर कल्याणी पर्व्वतेश्वर से भी अपने अपमान का बदला नही ले पाती। फलत वह कुछ किंकर्तव्यविमूढ-सी हो जाती है और चाणक्य से जाकर कहती है—आर्य, अब मुझे लौटने की आज्ञा दीजिए।

चाणक्य—और चद्रगुप्त से क्या कह दिया जाय?

कल्याणी—मै नही जानती।

चाणक्य—परन्तु राजकुमारी, उसका असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जायगा। वह बिना पतवार की नौका के सदृश इधर-उधर बहेगा।

कल्याणी—आर्य, मै इन सब बातो को नही सुनना चाहती, क्योकि समय ने मुझे अव्यवस्थित बना दिया है।

इसके पश्चात् केवल एक बार कल्याणी के दर्शन और होते है।

वह मगध के राजकीय उपवन मे घूम रही है। उसका पिता नन्द मारा जा चुका है और मगध चन्द्रगुप्त के अधिकार मे है। अपने ही उपवन मे बदिनी कल्याणी वह सोचती हुई टहल रही है—'मै वही तो हूँ जिसके एक सकेत पर मगध का साम्राज्य चल सकता था? वही शरीर है, वही रूप है, वही हृदय है, पर छिन गया अधिकार और मनुष्य का मानदड ऐश्वर्य। अब जीवन लज्जा की रगभूमि बन रहा है'।

इसी समय वहाँ पर्व्वतेश्वर आ जाता है। मद्यप की दशा मे वह उसका अपमान करना चाहता है। अपनी लाज बचाने के लिए छुरा निकाल वह उसका वध करती है। चीत्कार सुनकर चद्रगुप्त प्रवेश करता और आते ही आश्चर्य से पूछता है—कल्याणी! कल्याणी! यह क्या?

कल्याणी—वही जो होना था। चन्द्रगुप्त! यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था।

इस पक्ति मे बोलते हुए कल्याणी के हृदय को देखिए। बार-बार अपने प्रयत्न मे असफल कुमारी अपने पिता को, अपने पिता के राज्य को, सासारिक सम्पत्ति-सम्बन्धी अपने समस्त वैभव को खोकर एकात मे कुछ देर रोने के लिए आती है और वहाँ भी उसका अपमान होता है। ठीक ऐसे ही समय यदि वह चद्रगुप्त को—उसी चद्रगुप्त को जिसके मुखचन्द्र की ओर जीवन भर वह टकटकी लगाये देखती रही, उसी प्रियतम को जो उसका एक मात्र अवलम्ब था, सर्वस्व था—पाकर जितना आवेग, विषाद और अधीरता से लड़ता हुआ प्रेम उसके हृदय में उमडा होगा, वह सब कल्याणी के 'चन्द्रगुप्त'! सबोधन से स्पष्ट है। परन्तु यह उद्वेग समाप्त नही होता और कल्याणी कहने लगती है—'मुझे भ्रष्ट करके, अपनी सगिनी बनाकर यह पशु (पर्व्वतेश्वर) पूरे मगध पर अधिकार करना चाहता था। परन्तु

मौर्य ! कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त'।

चन्द्र०—क्या यह सच है, कल्याणी ?

कल्याणी—हाँ, यह सच है। परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए। इसलिए उस प्रणय को, प्रेम-पीड़ा को, मैं पैरों से कुचल कर, दबाकर, खड़ी रही। अब मेरे लिए कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहा।

हृदय का बबूला वहीं बैठ गया और चुप होकर कल्याणी ने अचानक छुरी मार कर आत्महत्या कर ली।

यही 'प्रसाद' जी चित्रित कल्याणी का चरित्र है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस चंद्रगुप्त के पीछे वह जीवन भर भटकती रही, जिसे प्राप्त करने का जीवन भर प्रयत्न करती रही; उसी को पाकर उसने, अपने पिता की ममता के पीछे, ठुकरा दिया। बहुत-कुछ ऐसा ही चरित्र प्रसाद जी की 'आकाश-दीप' शीर्षक कहानी की पात्री चंपा का भी है। परन्तु दोनों में साम्य होते हुए भी कल्याणी का चरित्र विशेष स्वाभाविक है। वह तो जिस प्रेमांकुर को जीवन भर हृदय के रक्त से सींचती रही, उसी के फूलने पर मुँह मोड़ लेती है। कल्याणी के चरित्र में दुर्बलताएँ हैं; पर उन्हीं के कारण वह हमारी सहानुभूति की पात्री बन सकी है।

अलका

ऐतिहासिक नाटकों में यद्यपि लेखक को देशकाल की परिस्थिति का ध्यान रखना पड़ता है, तथापि नाटक को विशेष रोचक बनाने के लिए नाटककार को इतनी स्वतंत्रता भी रहती है—और यह वांछनीय भी है—कि वह अपनी रुचि के अनुसार कुछ ऐसे पात्रों की सृष्टि करे जिनके द्वारा अपने सिद्धांतों, उद्देश्य और आदर्शों को पाठकों के सामने रखने का अवसर उसे प्राप्त हो सके। अलका की सृष्टि

प्रस्तुत नाटक में प्रसाद जी ने इसी उद्देश्य से की है। यह तक्षशिला की राजकुमारी है। इतिहास के आधार पर उसके अस्तित्व-अनस्तित्व के विवाद में पड़ना तो व्यर्थ है; परन्तु इतना निश्चित है कि इस देश-प्रेमिका का अनुकरण करना जीवनोद्देश्य बनाकर भारतीय युवतियाँ भी अपने देश में जागृति फैला सकती हैं।

प्रथम दृश्य में अलका दयालु और गुणज्ञा नवयुवती के रूप में सामने आती है। सिंहरण की निर्भीकता से प्रभावित हो आंभीक को रोककर वह कहती है—'भाई! इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छंद हृदय में कितना वेग है! यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है; जाने दो'। और अपमान, तिरस्कार और क्रोध से पागल भाई को घर पहुँचाकर लौटते ही सिंहरण से वह स्पष्ट कह देती है—'मैं तुम्हारी सुख-शांति के लिए चिंतित हूँ।

सिंहरण के प्रति व्यक्त किये गये अलका के उक्त दोनों उद्‌गारों से एक बात यह ज्ञात होती है कि वह एक साधारण युवती है जो किसी सुन्दर, हृष्टपुष्ट नवयुवक के स्वाभिमान और आत्मगौरव-संबंधी निर्भीक भावों का आदर करती है। 'साधारण युवती' उसे इसलिए कहना चाहिए कि समादर की यह सहज वृत्ति समान रूप से सबके मन में उत्पन्न होती है। इस भावोदय के पश्चात् साधारण और आदर्श युवती का अन्तर समझ में आता है। यदि युवक की सुन्दरता, निर्भीकता, योग्यता और स्वास्थ्य आदि पर मुग्ध होकर, निजी वासना की पूर्ति की, वह आशा करती है तो उसे साधारण युवती ही समझा जायगा। इसके विपरीत, यदि वह इन गुणों पर इस कारण मुग्ध हुई है कि इनका आदर करना सामाजिक कर्त्तव्य है, मनुष्यता के नाते धर्म है, उसका अनुकरण करना उन्नति-पथ पर अग्रसर होना है, तो हम युवती के विचारों की सराहना करेंगे; स्व-कर्त्तव्य-पालन कर सकने पर उसे बधाई देंगे।

प्रसादजी ने अलका को इसी दूसरे प्रकार की आदर्श युवती बनाया है। वीर युवक सिंहरण की निर्भीकता और स्वातंत्र्यप्रियता का वह आदर करती है और उसके देश-प्रेम-संबंधी विचारों से प्रभावित होकर स्वदेश-रक्षा के लिए स्वयं कटिबद्ध हो जाती है। उसे यह जानकर बड़ा दुख होता है कि उसका भाई विदेशियों से धन लेकर देश के शत्रु का निंद्य कर्म कर रहा है और तब अलका सिंहरण को उत्साहित करती हुई स्वयं प्रतिज्ञा करती है—'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है। मालव-वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतंत्रता है, तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है, तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्यावर्त्त की बालिका हूँ। आंभीक को मैं शक्ति भर पतन से रोकूँगी'।

यहीं से अलका का कार्य आरम्भ होता है। स्वदेशीय शत्रुओं का सहायक उसी का भाई है, इस कलंक का प्रायश्चित करने के लिए एक दिन, राज्य के सुखों पर, संसार के वैभव पर, लात मारकर 'उत्तरापथ की यह लक्ष्मी' कर्तव्य-पालन के आवेश में 'अनन्त पथ पर' चल देती है। कारण पूछने पर उसका स्वाभिमान-भरा उत्तर है—'यवनों के हाथ स्वाधीनता बेंच कर उनके दान से जीने की शक्ति मुझमें नहीं'।

अलका के मुख से इतना कहलाकर प्रसाद जी का एक उद्देश्य पूरा हो जाता है। वे यह बता देते हैं कि भारतीय युवतियों से देश के लिए क्या आशा की जा सकती है और इसके लिए उन्हें कितना बड़ा त्याग करना होगा। अलका ने पिता को छोड़ा, भाई को छोड़ा, राज्य और वैभव छोड़ा; देशीय स्वतंत्रता के लिए होने वाले यज्ञ में उसने अपने समस्त सुखों की आहुति दे दी। इतने बड़े और महत्वपूर्ण त्याग की आवश्यकता भी है। जितना महान् यज्ञ होगा, बलि भी उतनी ही महत्व की चाहिए और ऐसी ही आहुति देने के लिए देश की स्वाधीनता चाहनेवाली भारतीय कलदेवियों को तैयार होना होगा। उनके रणचंडी बनने

से ही देश स्वतंत्र हो सकेगा। अलका की तरह आर्य-पताका हाथ में लिये जब वे चारो तरफ गाती फिरेंगी—

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा-समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारता—
'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य-पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो।
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ, विकीर्ण दिव्यदाह सी,
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य-सिंधु में सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

तब किसी भी देश को स्वतंत्र होते देर न लगेगी, इसे पूर्णतया निश्चित समझिए।

एक बात और है। प्रसाद जी ने अलका के हाथ में आर्य-पताका उद्देश्य-विशेष से ही दी है। फ्रांस की देवी जान आव आर्क की भाँति जब भारतीय देवियों के हाथ में पताका होगी, तब कहाँ तक आंभीक-जैसे विलासी युवक शर्म न खायँगे ? अलका की तरह जब वे पुकार कर कहेंगी—'वीर नागरिको! देश पद-दलित हो रहा है और तुम विलासिता में फँस रहे हो! क्या यही मातृभूमि के प्रति तुम्हारा कर्तव्य है'?—तब क्या हमारे युवक अपने को सम्हाल सकेंगे ? नाटक में भी तो अलका को उत्तेजना फैलाते देख कर आंभीक प्रभावित होता है। चाणक्य से उसकी बातचीत सुनिए—

आंभीक—यह अलका है! तक्षशिला में (उक्त गीत गाकर) उत्तेजना फैलाती हुई यह अलका!

चाणक्य—हाँ आंभीक! तुम उसे बंदी बनाओ, मुंह बन्द करो।

आंभीक—(कुछ सोचकर) असंभव! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा।

चाणक्य—यह मैं कैसे कहूँ ? मेरी लक्ष्मी अलका ने आर्य-गौरव के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं उठाये ? वह भी तो इसी वंश की बालिका है, फिर तुम तो पुरुष हो, तुम्हीं सोच देखो !

आंभीक—व्यर्थ का अभिमान मुझे अब देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध करेगा। आर्य चाणक्य, मैं आर्य-साम्राज्य से बाहर नहीं हूँ।

देश-प्रेमिका अलका के देश-प्रेम से प्रभावित आंभीक के हृदय में उठा हुआ उक्त उद्‌गार क्षणिक नहीं है। विगत युद्ध में यवनों का साथ देनेवाला आंभीक इस बार सचेत है, पूर्व कर्म पर उसे खेद है, ग्लानि है और उसी आवेश में आगे बढ़ कर वह अलका से कहता है—'बहन, तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था बहन ! तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है ; आंभीक की आवश्यकता न थी। मैं देशद्रोही हूँ, नीच हूँ ! तूने तो गांधार के राज-वंश का मुख उज्ज्वल किया है। राज्यासन के योग्य तू ही है'।

नाटककार की यही अभिलाषा थी और हमें हर्ष है कि वह नाटक में पूर्ण होती है। अब प्रश्न यह है कि क्या इससे देश की तत्कालीन परिस्थिति को सम्हालने के लिए कुछ उत्तेजना मिलती है ? क्या कल्पना के लोक में विचरण करनेवाले हमारे विलासी युवक अपने भावी जीवन के लिए कुछ अवलम्ब पा सकेंगे अथवा प्रसाद जी का उक्त चित्र केवल काल्पनिक है और अलका कवि-प्रसाद के कल्पना-लोक में विहार करनेवाली कोई दिव्य बालिका ? इन प्रश्नों के उत्तर में हमें कुछ कहना नहीं है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों को ऐसी अनेक कोमल कलेवरा कामिनियों के दिव्य चरित्रों और उनके अलौकिक कामों पर विश्वास न होता हो तब तो बात दूसरी है; पर यदि हम इनके कार्यों को गर्व की दृष्टि से देखते हैं, अपने गौरव की चीज समझते हैं तो हमें प्रसाद जी का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने हमारा

एक खोया हुआ रत्न ढूँढ़ कर हमें सप्रेम प्रदान किया। और सो भी ऐसे अवसर पर जब हमें उसकी अत्यन्त आवश्यकता थी।

अलका में और भी गुण हैं। वह बुद्धिमती है, आत्माभिमानिनी है, सरल और निष्कपट प्रेमिका है, विनोदिनी और साहसी बालिका है। उसका प्रत्येक कार्य देशोन्नति से सम्बन्ध रखता है और साहस के रंग में रँगा जाकर उसका जीवन सार्थक हो जाता है। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण है उसका वह संदेश जो उसने भाई आंभीक को दिया है—राज्य किसी का नहीं है; सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट चन्द्रगुप्त तक इस महान आर्य-साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतन्त्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है। उसी की पूजा होगी। भाई, तक्षशिला तुम्हारी नहीं और हमारी भी नहीं। तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है; वह आर्यावर्त्त का होकर रहे, इसके लिए मर मिटो। फिर इसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहाँ अप्सराएँ विजय-माल लेकर खड़ी होंगी, सूर्य-मंडल मार्ग देगा और उज्ज्वल आलोक मे मंडित होकर गांधार का राजकल अमर हो जायगा'।

अलका के इस महत्वपूर्ण सन्देश के सम्बन्ध में चाणक्य के स्वर में स्वर मिलाकर हम भी 'साधु, अलके साधु' कहना ही यथेष्ट समझते हैं।

कार्नेलिया

ग्रीक सम्राट् की इस मातृ-विहीन भावुक पुत्री के चरित्र की उल्लेख्य विशषता है उसका भारत-प्रेम जिसका परिचय प्रथम दर्शन में ही 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' शीर्षक गीत गाकर वह

देती है। सिन्धु के मनोहर तट पर एक वृक्ष के नीचे बैठी यह युवती भाव-भरे जो शब्द कहती है—'लम्बी यात्रा करके जैसे मैं वहीं पहुँच गयी हूँ जहाँ के लिए चली थी'—उनसे हम सहसा उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। दूसरे स्थान पर चन्द्रगुप्त से उसका कथन है—'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल में धूप, भोले कृषक और सरल कृषक-बालिकाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि, भारतवर्ष क्या भुलायी जा सकती है? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं; भारत मानवता की जन्मभूमि है; ग्रीकों के भारतीय आक्रमण का उसने यह सोचकर विरोध किया है—'यह निर्मल ज्योति का देश, पवित्र भूमि, हत्या और लूट से बीभत्स बनायी जायगी—ग्रीक इस शस्य-श्यामला पृथ्वी को रक्त-रंजित बनावेंगे।'

कार्नेलिया के चरित्र की दूसरी विशेषता है चन्द्रगुप्त के प्रति उसका प्रेम जो सर्वत्र संयत और मर्यादित रहता है। सिल्यूकस के सादर निमंत्रण से चन्द्रगुप्त यवन-शिविर में कुछ दिन रहा था। वहीं इस ग्रीक-बालिका का उससे परिचय होता है। पश्चात्, दांड्यायन के आश्रम में जब सिकन्दर इस भारतीय राजकुमार के असाधारण तेज से चकित होकर उसका परिचय पूछता है तब जैसे कार्नेलिया के परिचय का रंग और गहरा हो जाता है। और इसी समय दांड्यायन के मुख से उसकी भावी उन्नति के सम्बन्ध में भविष्यवाणी सुनकर चन्द्रगुप्त के प्रति उसका आकर्षण अधिक तीव्र होकर स्मृति का रूप धारण कर लेता है जिसका परिचय हमें फिलिप्स के अपमानित होकर चले जाने के पश्चात् उसके इस कथन से मिलता है—'एक घटना हो गयी, फिलिप्स से बिनती की उसे भूल जावे की! किन्तु उस घटना से और

भी किसी का सम्बन्ध है, उसे कैसे भूल जाऊँ ? उन दोनों में शृंगार और रौद्र का संगम है। वह भी आह कितना आकर्षक है ! कितना तरंग-संकुल है ! इसी चन्द्रगुप्त के लिए उस साधु ने भविष्य-वाणी की है भारत-सम्राट् होने की ! उसमें कितनी विनयशील वीरता है' !

चन्द्रगुप्त से विशेष घनिष्ठता बढ़ाने के पूर्व ही उसे भारत से विदा होना पड़ता है। इसका उसे दुख है। उसके हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में प्रेम की सहज वृत्ति ने जन्म लिया है। प्रिय पात्र की उपस्थिति जितनी प्रिय है उसकी अनुपस्थिति मनोरम स्मृति का रूप धारण कर उतनी ही विकलता का कारण बन जाती है। प्रेम और स्मृति के इस रहस्य से अवगत होकर ही, 'स्मृति जीवन का पुरस्कार है सुन्दरी'—चन्द्रगुप्त के इस भाव-भरे वाक्य के उत्तर में वह कहती है—'परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ ! स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर दंड हो जाती हैं। अतीत के कारागृह में बंदिनी स्मृतियाँ अपने करुण विश्वास की शृंखलाओं को झनझनाकर सूची-भेद अंधकार में सो जाती हैं'।

द्वितीय यवनाक्रमण के अवसर पर जब उसे पता लगता है कि इस बार युद्ध होगा चन्द्रगुप्त से तो पिता को जैसे पूर्व घटनाओं की स्मृति कराकर इसे रोकना चाहती है—'पिता जी, उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी ?..... आप ही ने मृत्यु-मुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी।.....और उसी ने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी। फिलिप्स का वह अशिष्ट आचरण पिता जी' ! इतना विरोध करने पर भी विजयोल्लास की कामना में मत्त सम्राट् सिल्यूकस जब कन्या का आशय नहीं समझ पाता तब वह एक दीर्घ विश्वास लेकर' रह जाती है और सुवासिनी से एक गीत गाने

को कहकर जैसे अपनी मानसिक व्यथा भूल जाने का प्रयास करती है।

सम्राट् सिल्यूकस दूसरे अवसर पर अपनी भावी विजय की संभावना की सूचना उसे देता है—'चंद्रगुप्त का मंत्री चाणक्य उससे क्रुद्ध होकर कहीं चला गया है। आंभीक इस युद्ध में तटस्थ रहेगा। पंचनद में चंद्रगुप्त का कोई सहायक नहीं। बेटी, सिकंदर से बड़ा साम्राज्य, उससे बड़ी विजय, कितना उज्ज्वल भविष्य है'! पिता को प्रमुदित कर देनेवाली इस कल्पना के उत्तर में वह केवल, 'हाँ पिता जी' कहकर मौन रह जाती है जिसकी व्याख्या स्वयं सिल्यूकस ने इस प्रकार की है—'हाँ, पिताजी! उल्लास की एक रेखा भी नहीं! इतनी उदासी'! इस उदासी का कारण वह निर्मम और निष्ठुर युद्ध-वीर क्या समझ सकता है?

अंत में सिल्यूकस को चंद्रगुप्त के प्रति पुत्री कार्नेलिया के आकर्षण का पता चल जाता है। इस सूचना की सत्यता परखने के लिए इसने कार्नेलिया की परीक्षा ली है। पिता-पुत्री का वार्तालाप इस प्रकार है—

कार्नेलिया—पिता जी!

सिल्यूकस—बेटी कार्नी!

कार्नेलिया—आप चिंतित क्यों हैं?

सिल्यूकस—चन्द्रगुप्त को दंड कैसे दूँ? इसी की चिन्ता है।

कार्नेलिया—क्यों पिताजी, चन्द्रगुप्त ने क्या अपराध किया है?

सिल्यूकस—हें! अभी बताना होगा कार्नेलिया! भयानक युद्ध होगा, इसमें चाहे दोनों का सर्वनाश हो जाय।

कार्नेलिया—युद्ध तो हो चुका। अब क्या मेरी प्रार्थना आप सुनेंगे? पिताजी! विश्राम लीजिए। चन्द्रगुप्त का तो कोई अपराध नहीं, क्षमा कीजिए पिता! (घुटने टेकती है)

सिल्यूकस—(बनावटी क्रोध से) देखता हूँ कि पिता को पराजित करनेवाले पर तुम्हारी असीम अनुकम्पा है।

कार्नेलिया—(रोती हुई) मैं स्वयं पराजित हूँ! मैंने अपराध किया है। पिताजी, चलिए इस भारत की सीमा से दूर ले चलिए, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी!

इस कथोपकथन में कार्नेलिया के प्रत्येक वाक्य से प्रिय चंद्रगुप्त के प्रति असीम, परन्तु मर्यादित, प्रेम का परिचय मिलता है जिसके वेग का दमन करने मे असमर्थ होकर उसका पराजित रमणी-हृदय रो पड़ता है। पूज्य पिता के समक्ष हृदय की इस सहज सुकुमार वृत्ति की सलज्ज व्यंजना नितांत अभिनंदनीय है।

इस यवन-कन्या के कोमल हृदय की भावुकता का परिचय उसके इस कथन से लगता है—'यहाँ आने पर मन उदास हो गया है। इस संध्या के दृश्य ने मेरी तन्मयता में एक स्मृति की सूचना दी है। सरला संध्या पक्षियों के नाम से शांति को बुलाने लगी है। देखते-देखते एक-एक करके दो-चार नक्षत्र उदय होने लगे; जैसे प्रकृति अपनी सृष्टि की रक्षा हीरों की कील से जड़ी हुई काली ढाल लेकर कर रही है और मधुर पवन किसी मधुर कथा का भार लेकर मचलता हुआ चला जा रहा है'। दारा की कन्या को जब फिलिप्स 'सम्राज्ञी' कहने का उससे प्रस्ताव करता है तब बड़े तथ्यपूर्ण शब्दों में, सहानुभूति के स्वर से, वह कहती है—'ग्रीक लोग केवल देशों को विजय करके समझ लेते हैं कि लोगों के हृदयों पर भी अधिकार कर लिया। वह देवकुमारी-सी सुन्दर बालिका 'सम्राज्ञी' कहने पर तिलमिला जाती है।"

फिलिप्स से उसके निम्नलिखित दो वार्तालापों से उसकी वाक्चातुरी का सुन्दर परिचय मिलता है—

फिलि०—कुमारी ! प्रणय के सम्मुख क्या साम्राज्य तुच्छ है ?

कार्नेलिया—यदि प्रणय हो।

फिलि०—प्रणय को तो मेरा हृदय पहचानता है।

कार्नेलिया—(हँस कर) ओहो, यह तो बड़ी विचित्र बात है !

फिलिप्स—कुमारी, क्या तुम मेरे प्रेम की हँसी उड़ाती हो !

कार्नेलिया—नहीं सेनापति ! तुम्हारा उत्कट प्रेम बड़ा भयानक होगा, उससे तो डरना चाहिए।

फिलि०—(कुछ सोंचकर) कुमारी न जाने फिर कब दर्शन हों, इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।

कार्नेलिया—तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स।

फिलि०—प्राण देकर भी नहीं कुमारी ! परन्तु प्रेम अंधा है।

कार्ने०—तुम अपने अंधेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स।

भौतिक उन्नति के प्रति उसे किसी प्रकार का लोभ नहीं है और ऐहिक ऐश्वर्य की क्षणिकता से भी वह परिचित है। भारतीय प्रदेश की विजय-कामना में मग्न पिता को उसने समझाया है—'विश्राम लीजिए। विजयों की प्रवंचना में अपने को न हारिए। महत्वाकांक्षा के दाँव पर मनुष्यता सदैव हारी है' !

स्वाभिमान और आत्मगौरव की वीर भावनाएँ भी उसमें वर्तमान हैं। देश के प्रति प्रवंचक बननेवाले राक्षस को उसने बुरी तरह फटकारा है—'मेरे यहाँ ऐसे लोगों को देश-द्रोही कहते हैं।'.....जिस देश ने तुम्हारा पालन - पोषण करके पूर्व उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नहीं हो रहे हो' ? सिल्यूकस को पराजित करके भारतीय सेना जब यवन-शिविर पर आक्रमण करती है, तब उसका यह कथन—

चिंता नहीं, ग्रीक-बालिका भी प्राण देना जानती है। आत्मसम्मान, ग्रीस का आत्मसम्मान जिये'—और इसके पश्चात् उसका छुरी निकाल लेना इस बात का प्रमाण है कि कार्नेलिया वीर रमणी है।

सारांश यह कि भारत पर अनुरक्त इस ग्रीक-बाला में महान नारी के सभी उज्ज्वल गुण—सहृदयता, सहानुभूति, भावुकता, विदुषता, योग्यता, प्रकृति-प्रेम, स्वाभिमान, आत्मगौरव आदि—वर्तमान हैं और इसके संबंध ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक और व्यक्ति, दोनों का गौरव बढ़ाया है।

---

(२) साधारण-पात्र-पात्रियाँ

पर्व्वतेश्वर

पंचनद-नरेश पौरव पर्व्वतेश्वर के चरित्र की सबसे प्रधान विशेषता है उसका क्षत्रियाभिमान जिसका परिचय उसके प्रत्यक्ष दर्शन होने के पहले ही मागध राजसभा में उसके इस कथन से—'प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा की कन्या से हम परिणय नहीं कर सकते'—मिल जाता है। दूसरी बार इस गर्व का परिचय उसी की राजसभा में चाणक्य से बातचीत में मिलता है जब वह हँसकर कहता है—'शूद्र-शासित राष्ट्र में रहनेवाले ब्राह्मण के मुख से यह बात शोभा नहीं देती'। तीसरी बार पुनः वह अपने अभिमान का परिचय युद्ध के पूर्व मगध की सेना देखकर देता है। पुरुषवेश धारण किये नंद-कुमारी कल्याणी उसे समझाती है—'मगध की सेना में एक छोटा-सा वीर युवक-दल इस युद्ध के लिए परम उत्साहित था। स्वेच्छा से उसने इस युद्ध में योग दिया है'। इतना सुनते ही पौरव पर्व्वतेश्वर अविश्वास और तिरस्कार के साथ हँसता हुआ कहता है—'प्राच्य मनुष्यों

में भी इतना उत्साह' ! चौथी बार अपना यह अहंकार वह युद्ध-क्षेत्र में ही प्रकट करता है । सारी गज-सेना के छिन्न-भिन्न हो जाने पर सिंहरण उसे आकर सावधान करता है—'यह स्थान सुरक्षित नहीं, उस पहाड़ी पर चलिए' । पर्वतेश्वर उसकी सम्मति की उपेक्षा करके उसका परिचय चाहता है और उसके मुख से 'एक मालव' सुनते ही तिरस्कारपूर्वक कहता है—'मालव के मुख से ऐसा कभी नहीं सुना गया । मालव ! खड्ग-क्रीड़ा देखनी हो तो खड़े रहो, डर लगता हो तो पहाड़ी पर जाओ' ।

उसके चरित्र का यह दोष उसकी अनुपम वीरता के आगे दब-सा जाता है; कम-से-कम पाठक को यह अभिमान खटकता नहीं । युद्ध-क्षेत्र में उसका प्रथम महत्वपूर्ण वाक्य हम यह सुनते हैं—'युद्ध में जय या मृत्यु—दो में से एक होनी चाहिए' । सेनापति राजकुमार की वीरता का समाचार सुनाता है तो पर्व्वतेश्वर का उत्तर है—'प्रशंसा का समय नहीं है' । सेना के कुछ कायरों को भागते देखकर उसका निश्चय है—'बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसें, सारी गज-सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें; परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्व्वतेश्वर के लिए असम्भव है' । उसकी दृष्टि में, 'वीरता भी एक सुन्दर कला है,' और वह इस कला के पुजारियों का प्रशंसक है ।

इस युद्ध के पश्चात् पौरव के विचारों में, विचित्र परिवर्तन होता है और लगभग पैंतालीस वर्ष का यह प्रौढ़ षोडशी कुमारी अलका से विवाह करने को प्रस्तुत है । 'महाराज, यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँग कर आप सिकन्दर से द्वंद्व-युद्ध माँगते, तो अलका को विचार करने का अवसर मिलता' । गांधारकुमारी के मुख से इतना सुनते ही विचित्र मुद्रा से वह एक अद्भुत प्रश्न पूछता है—'यदि मैं सिकन्दर का विपक्षी बन जाऊँ तो तुम मुझे प्यार करोगी अलका' ?

सिंहरण और अलका का विवाह अपनी आँखों से देख यह प्रौढ़ प्रेमी सचमुच पागल हो जाता है और—'प्रतिशोध ! रक्तपिशाची प्रतिहिंसा अपने दाँतों से नसों को नोच रही है ! मारूँ या मार डालूँ ? मारना तो असम्भव है। × × ×तो फिर जी कर क्या करूँ'—कहता हुआ आत्महत्या के लिए छुरा निकालता है, पर मारता नहीं। चाणक्य के हाथ पकड़ते ही जैसे उसकी सुबुद्धि जागती है—'मैं गर्व में भूला था'। और दूसरे ही क्षण पालतू पशु की तरह उसके पीछे चला जाता है। मगध-विजय के लिए अब वह चन्द्रगुप्त और चाणक्य का सहायक है और अपने गौरव से इतना गिर जाता है कि चरों की तरह चन्द्रगुप्त-फिलिप्स-युद्ध के प्रशंसात्मक समाचार चाणक्य को देते जरा भी नहीं सकुचाता।

मगध-विजय के पश्चात् कुमारी कल्याणी को एकान्त में पाकर वह अपनी लम्पटता का परिचय देता है; उसे अपनी 'प्रियतमा' कहकर 'उत्तरायण की संकटमयी परिस्थिति' से अलग रह कर शांति पाने की कामना करता है। परन्तु कल्याणी इसका वध करके इस 'पशु को नीचता का फल' चखा देती है।

आंभीक

उद्धत और उद्दंड, दुर्विनीत और क्रोधी प्रकृति का यह व्यक्ति तक्षशिला का राजकुमार, अदूरदर्शी और अभिमानी भी है। विश्व-विख्यात तक्षशिला के अध्यापक चाणक्य से परिचित होते हुए भी वह अशिष्टतापूर्वक कहता है—'बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे विरुद्ध कुचक्रों का सृजन' ! इसी प्रकार देश की स्वतंत्रता के लिए आंदोलन की बात अलका के मुख से सुनते ही उत्तेजित और असंयत स्वर में अपने पिता गांधार-नरेश के सामने ही कहता है—'और तब अलका, मैं अपने हाथों से तुम्हारी हत्या करूँगा'।

युवक-हृदय स्वभावतः महत्वाकांक्षी होता है; परन्तु नीचाशय

आंभीक अपनी महत्वाकांक्षा का भव्य भवन कृतघ्नता और देशद्रोह की नीव पर बनाना चाहता है। उसे क्षुद्र-हृदय समझकर ही पंचनद-नरेश पर्व्वतेश्वर ने स्पष्ट कह दिया है—'ऐसे कायर से मैं अपने लोकविश्रुत कुल की कुमारी का ब्याह न करूँगा'। यह सुनकर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए स्वयं पर्व्वतेश्वर से युद्ध न करके आंभीक विदेशी और विजातीय शत्रुओं से मिलकर देश-द्रोही बनता है। उसकी क्षुद्रता की पराकाष्ठा उस समय दिखायी देती है जब सिकन्दर के शिविर में निर्भीक और साहसी चन्द्रगुप्त को निर्भयतापूर्वक बातें करते देखकर भी वह सचेत नहीं होता, प्रत्युत 'शिष्टता से बात करने' का उपदेश देकर अपनी समझदारी का परिचय देता और चन्द्रगुप्त के द्वारा एक थप्पड़-सा उत्तर पाना चाहता है—'स्वच्छ हृदय भीरु-कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य ! देशद्रोही आंभीक ! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से अथवा घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है'।

गांधार में विद्रोह मचाने की बात सुनकर जिस अलका की हत्या आंभीक करना चाहता था उसी के चले जाने के पश्चात् पिता के सावधान करने पर अपनी भूल स्वीकारता हुआ वह कहता है—'मैं लौट तो आता, परन्तु यवन सैनिक छाती पर खड़े हैं ! पुल बँध चुका है; नहीं तो' अर्थात् यदि मैं अब यवनों का विरोध करूँगा तो पहले गांधार का ही नाश होगा। उसका यह कथन निष्फल होते हुए भी इतना संकेत अवश्य करता है कि प्रयत्न करने पर आंभीक देशप्रेमी बन सकता है। द्वितीय यवन-युद्ध के पूर्व चाणक्य ने राष्ट्रीय भावना-प्रचारक गीत गाकर देश में जागृति फैलाती हुई अलका के उत्साहवर्द्धक दर्शन आंभीक को कराये; तभी आवेश में वह कह जाता है—'व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न करेगा × × × स्वीकार है ब्राह्मण ! मैं केवल एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र में एक सैनिक होना चाहता हूँ। और कुछ नहीं'।

स्वदेश-प्रेम-संबंधी अपने ये उद्‌गार आंभीक व्यक्त कर ही रहा था कि सिंहरण के साथ अलका प्रवेश करती है। उसे देखकर पूर्ववत् आवेशयुक्त स्वर में ही, परन्तु भरे हृदय से, आंभीक कहता है—'बहन ! तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था बहन ! तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है, आंभीक की आवश्यकता न थी'। इसी प्रसंग में उसकी स्वीकारोक्ति है—'मैं देशद्रोही हूँ ! नीच हूँ ! तूने गांधार के राजवंश का मुख उज्ज्वल किया है ! राज्यासन के योग्य तू ही है'।

कुछ दिन बाद, मरने के कुछ क्षण पहले, यवन-सम्राट् के सामने भी आंभीक स्वीकारता है—'हाँ सिल्यूकस ! आंभीक सदा प्रवंचक रहा, परन्तु यह प्रवंचना कुछ महत्व रखती है'।

निश्चय ही यह प्रवंचना उसके पूर्व पाप का अभिनन्दनीय प्रायश्चित है।

राक्षस

कुसुमपुर के इस बड़े कुशल 'विद्वान' से नाटक में सर्वप्रथम हमारा परिचय उस समय होता है जब मगध के विलास-कानन में हम एक साधारण नागरिक को कुसुमपुर के 'कमनीय कुसुमों की रानी' सुवासिनी के प्रस्ताव पर यह कहते सुनते हैं—'राक्षस सचमुच राक्षस होगा यदि इसमें आनाकानी करे'। यों तो, यह अपमानजनक संबोधन हम कुछ क्षण बाद भूल जाते हैं; क्योंकि अभिनय-सहित उसके श्रेष्ठ गान के पश्चात् मगध-सम्राट उसे 'कुसुमपुर का एक रत्न' कह कर अमात्यवर्ग में नियुक्त कर देता है; परन्तु आगे चल कर पग-पग पर हमारे मन में शंका होती है कि कहीं सचमुच यह मूर्ख तो नहीं है। दरबार हो या राजपथ, विलास-कानन हो या युद्ध-क्षेत्र, शत्रु के साथ हो या मित्र के, किसी भी स्थान पर, किसी भी दशा में, हम उसे कोई श्रेष्ठ कार्य करते या स्वाभिमान-भरे शब्द कहते पाते ही नहीं।

हाँ, अपनी विद्या और अपने परिष्कृत विचारों से वह परिचित हैं और 'कुसुमपुर के स्वर्गीय सुमन सुवासिनी से प्रेम करता है'। सुवासिनी पर मगध-सम्राट् की दृष्टि है और उसको 'हस्तगत कर लेने पर राज-कोप होगा'—यह जानते हुए भी सच्चे प्रेमी की भाँति वह निश्चय करता है—'सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है। वह अमृत है, उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा'। भेंट होने पर अपनी बौद्ध-धर्मानुयायिनी प्रेमिका को समझाता है—'मैं स्वयं हृदय से बौद्धमत का समर्थक हूँ, केवल उसकी दार्शनिक सीमा तक—इतना ही कि संसार दुखमय है। मैं इस क्षणिक जीवन को सुखी बनाने का पक्षपाती हूँ'। परंतु जब प्रेमिका इतने से ही संतुष्ट नही होती तब उसके कारण राजचक्र में बौद्धमत का समर्थन करने को भी प्रस्तुत हो जाता है। यहाँ तक सब सुन्दर है; परन्तु इसके पश्चात् वह अपनी कला-कुशलता का उचित निर्वाह नही कर पाता।

मगध की राजासभा में, पंचनद-नरेश के यहाँ विवाह-प्रस्ताव ले जानेवाले मगध-दूत के निराश होकर लौटने की सूचना देते हुए वह आवेश में कह जाता है—'यह धर्म का दंभ है, व्यंग्य है। मैं इसका फल चखा दूँगा'। परन्तु कभी हम उसे तत्सम्बन्धी कोई प्रयत्न करते नहीं देखते। बस, केवल एक बार बन्दीगृह में चाणक्य को 'गुप्त प्रणिधि बनाकर' तक्षशिला भेजने की वह बात भर करता है जिसे इसने अस्वीकार कर दिया। तक्षशिला विश्वविद्यालय की शिक्षा का प्रसंग छिड़ते ही जिस बौद्धमत पर उसका पूरा-पूरा विश्वास नहीं है उसी की प्रशंसा करते हुए कहता है—'केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है'।

इसके अनतर राक्षस अपनी मूर्खता और निर्लज्जता का परिचय देना आरंभ करता है। 'क्या तुमने सबको मूर्ख समझ लिया है'—अपने इस प्रश्न के उत्तर में चाणक्य के मुख से, 'जो होंगे वे अवश्य समझे ही जायेंगे'—सुनकर जरा भी बुरा नहीं मानता। चाणक्य के

नियुक्त किये हुए अपने शरीर-रक्षकों के मुख से 'आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी है कि जब तक यवनों का उपद्रव है तब तक सबकी रक्षा होनी चाहिए, भले ही वह राक्षस क्यों न हो,' सुनकर भी कुछ परवाह नहीं करता। कल्याणी से वह कहता है—'एक बार मेरा चाणक्य से द्वन्द्व-युद्ध होना अनिवार्य है,' परन्तु फिर कभी भूलकर भी इस बात की चर्चा नहीं करता। और कुछ समय पश्चात् ही उसके प्रशंसनीय कार्यों की सूचना पाकर वह कह उठता है—'तू धन्य है ? मुझे ईर्ष्या होती है'। इस संबंध में उसने कल्याणी से कहा है—'मगध को गर्व है राजकुमारी और उनका गर्व सत्य है। चाणक्य और चंद्रगुप्त मगध की ही प्रजा हैं'। चाणक्य की छोटी-सी चाल पर वह पागलों की तरह बकने लगता है—'भूल थी, मेरी भूल थी ? मूर्ख राक्षस ?.... ...नंद ? क्रूरता और मूर्खता की प्रतिमूर्ति नंद ! एक पशु'।

चाणक्य की प्रशंसा करने के बाद भी समझता वह उसे शत्रु ही है; पर इसी 'शत्रु' पर विश्वास करके आंगुलीय मुद्रा देकर अपनी भयंकर मूर्खता का पुनः परिचय देता है। मगध-दरबार में सम्राट् की हत्या होते ही ऐसे निश्चित स्वर में, जैसे कुछ हुआ ही नहीं, विचित्र ढंग से चाणक्य से प्रार्थना करता है—'मुझे भी कुछ बोलने का अधिकार है', और फिर राज्यपरिषद की आयोजना की बात कह कर चाणक्य के संकेत से चंद्रगुप्त का अभिषेक कर देता है।

उसके पतन की अंतिम सीमा उस समय देखने को मिलती है जब वह स्वदेश का शत्रु बनकर यवनों की दासता स्वीकारता है और यवनकुमारी कल्याणी जब 'देशद्रोही' कहकर उसका तिरस्कार करती है तब भी जरा नहीं लजाता। सिल्यूकस के पराजित होने पर उसकी आँखें खुलती हैं और वह आकर चाणक्य की महत्ता स्वीकार करके चन्द्रगुप्त से क्षमा माँग लेता है।

मालविका

सेवा और त्याग की प्रतिमूर्ति यह बालिका 'प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना,' सिंधुदेश की रहनेवाली है तथा 'और देशों को देखने' की इच्छा से घूमती-फिरती है। गांधारकुमारी अलका से स्नेह करके इसने तक्षशिला में कुछ दिन वास किया। इसी समय यवनाक्रमण होता है। अलका की इच्छा से इसने उद्भांड के पुल का मानचित्र बनाया और इस प्रकार शत्रु-सेना के बीच जाकर अपनी सतर्कता और साहस का परिचय दिया। सिल्यूकस से युद्ध में सिंहरण को घायल देखकर यह इसके साथ चली आती है और इसके 'सहृदय व्यवहार' से प्रसन्न हो जाती है। मालव-उद्यान में उसका परिचय चन्द्रगुप्त से होता है जिसके 'सुन्दर रूप और कार्य'—'कभी इन्द्रजाली कभी कुछ'—से आकर्षित हो स्नेह करने लगती है। 'स्नेह' के प्रभाव और परिणाम से परिचित होकर उसने कहा है—'स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है' और उसका यह परिज्ञान ही उसे कल्याणी की तरह तिरस्कृत होने से रोकता है। प्रिय चन्द्रगुप्त के प्रति अपनी आसक्ति को वह कभी प्रकट नही होने देती और इसलिए 'व्यस्त जीवन' की दुहाई न देकर चन्द्रगुप्त उसकी 'सरलता पर मुग्ध' हो जाता है।

शांति-प्रिय इस सिंधुकुमारी को युद्ध भला नहीं लगता। उसके देश में 'युद्ध-विग्रह' होते भी नही; इसलिए उत्तरापथ की 'बलवती युद्ध-पिपासा' देखकर उसका चकित होना स्वाभाविक ही है। मालव-दुर्ग पर आक्रमण के समय अलका से उसका यह वार्तालाप उसकी प्रकृति का परिचायक है—

अलका—इस आपत्तिकाल में एक आयुध अपने पास रखना चाहिए। तू कटार अपने पास रख ले।

मालविका—मैं डरती हूँ, घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका। मैंने सेवा का व्रत लिया है।

अलका—प्राणों के भय से शस्त्र से घृणा करती हो क्या ?

मालविका—प्राण तो धरोहर है । जिसका होगा, वही लेगा । मुझे भय से इसकी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं ।

प्रिय चंद्रगुप्त के लिए 'सब कुछ करना'—यहाँ तक कि झूठ बोलना भी—उसका निश्चय है । चंद्रगुप्त दक्षिणापथ की विजय करके लौटता है और मालविका गर्व से गद्‌गद् हो जाती है । परन्तु सम्राट के 'स्वागत' का कोई उत्साह राजधानी में न देख कर वह चाणक्य से कारण पूछती है और ब्राह्मण उसे 'चंद्रगुप्त के प्राणों की रक्षा का भार' सौंप देता है । चंद्रगुप्त अब तक मालविका के सुकुमार हृदय के अंतःप्रदेश में बसता था ; अब वह इसे दिन-रात आँखों से ओझल नहीं होने देता सम्राट की तांबुलवाहिनी बनकर वह सरल और स्नेहपूर्ण व्यवहार से उसके 'विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति' हो जाती है । संघर्ष से ऊबे, शांति-सुख के लिए लालायित चन्द्रगुप्त के हृदय पर अधिकार कर लेना मालविका के लिए इस समय कठिन नहीं है, चन्द्रगुप्त इस ओर संकेत भी करता है; परन्तु यह संयम को हाथ से नही जाने देती और सहानुभूति-पूर्ण शब्दों में महानता के गौरव का स्मरण कराकर अपने अद्‌भुत आत्म-निग्रह का परिचय देती है । चन्द्रगुप्त से उसका यह संलाप दोनों के हृदय और स्वभावों का परिचय देता है—

चन्द्रगुप्त—मालविका, देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं ? मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता ।

मालविका— आप महापुरुष हैं ; साधारण जनसुलभ दुर्बलता न होनी चाहिए आप में । देव ! बहुत दिनों पर मैंने एक माला बनायी है ! (माला पहनाती है) ।

चंद्रगुप्त—मालविका ! इन फूलों का रस तो भौंरे ले चुके हैं ।

मालविका—निरीह कुसमों पर दोषारोपण क्यों! उनका काम है सौरभ बिखेरना, यह उनका मुक्त दान है । उसे चाहे मधुप ले या पवन ।

चन्द्रगुप्त—मालविका, मन मधुप से भी चंचल और पवन से भी प्रगतिशील है, वेगवान है।

मालविका—उसका निग्रह करना ही महापुरुषों का स्वभाव है।

अन्त में प्रिय चन्द्रगुप्त की रक्षा में स्वयं प्राण देकर वह अव्यक्त प्रेम की रक्षा के लिए निछावर हो जाती है। उसका अंतिम स्वगतकथन है—'जाओ प्रियतम! सुखी जीवन बिताने के लिए; और मैं रहती हूँ चिर दुखी जीवन का अंत करने के लिए। × × × यह चंद्रगुप्त की शय्या है। ओह, आज प्राणों में कितनी मादकता है! मैं..... कहाँ हूँ? कहाँ! स्मृति! तू मेरी तरह सो जा! अनुराग, तू रक्त से भी रंगीन बन जा'? और बस! 'जीवन की स्मृति! अंतर के आतुर अनुराग' को संबोधित करते-करते वह सो जाती है। अपने इस दुखी जीवन और उसके कारण की व्याख्या इसके बहुत पहले वह कर चुकी है—'फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरंद गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगो कर चले जाते हैं! एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, निश्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वी-तल रोने के लिए ही है? नहीं, सब के लिए एक ही नियम तो नहीं। कोई रोने के लिए है तो कोई हँसने के लिए'—मालविका के ये स्वगत-वाक्य उसके जीवन की पहेली के सभी प्रश्नों का समाधान कर देते हैं।

सुवासिनी

मगध के जन-प्रिय अमात्य सकटार की यह अनाथ कन्या कुछ समय तक बौद्ध-बिहार में रहने के पश्चात् एक दिन 'वसंतोत्सव की रानी' और 'सुन्दरियों की महारानी' के रूप में सम्राट् के विलास-कानन में प्रवेश करती है। यहाँ उसका कलापूर्ण अभिनय, 'जो वास्तविक घटना ही जान पड़ता है,' मंत्रमुग्ध दृष्टि से देखकर नंद-द्वारा उसे 'अभिनयशाला की रानी' बनाये जाते सुन मगध-

निवासियों के साथ हम हर्ष प्रगट करते हैं। किशोरावस्था में इसका चाणक्य से घनिष्ठ परिचय था और संभवतः यह उसकी ओर आकृष्ट भी हो चुकी थी ; परन्तु बौद्ध-स्तूप की पूजा से लौटते समय उसके व्यंग्य—'वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ'—से तिलमिलाकर, संभवतः उसको पहचानकर,अपने प्रेमी अमात्य राक्षस से इस अन्याय के प्रतिकार के लिए हठ करती है और उससे यह वचन—'आज से मेरे कारण तुमको राजचक्र में बौद्ध मत का समर्थन करना होगा'—लेकर ही शांत होती है। यद्यपि मगध सम्राट् नंद भी उसके उपासकों में है ; तथापि वह राक्षस ही की 'अनुचरी' है और 'नंद की विलास-लीला का क्षुद्र उपकरण' बन कर नहीं रहना चाहती।

पिता के बंदी-गृह से मुक्ति पाने पर आदर्श आर्य-बालिका की तरह समझती है—'पिता ने जिनके लिए मेरा चारित्र्य, मेरी निष्कलंकता नितांत वांछनीय हो सकती है, मुझे इस मलीनता के कीचड़ से कमल के समान हाथों में ले लिया है'। राक्षस से, जिसे 'वह अपने रूप और गुण का ग्राहक समझती है,' उसका स्पष्ट उत्तर है—'तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम देख नहीं रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय बिछुड़ जायगा, एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जायगी'। परन्तु जब सुवासिनी को राक्षस के क्षुद्राशय होने का पता चलता है तब चाणक्य के मुख से, पूर्व के मगधामात्य और अब के यवन-सेनानी राक्षस से 'परिणय' करने की बात सुनते ही निश्वास लेकर उत्तर देती है—'राक्षस से ! नहीं, असंभव'। इस समय उसके हृदय में चाणक्य के प्रति पूर्व स्मृति सजग हो गयी है, परंतु यह संयमी व्यक्ति, 'मगध के, सुवासिनी के और अपने, कल्याण की बात सोचकर उसे सचेत कर देता है तथा राक्षस को ही स्वीकारने के लिए उसे विवश करता है।

अन्य सामान्य बातें

नायक कौन—शास्त्रीय दृष्टि से नाटक का नायक कहलाने का अधिकारी होता है वह व्यक्ति आदि से अन्त तक जिसका घनिष्ठतम संबंध प्रमुख कार्य से बना रहे। आरंभ में कार्य-संपादन की इच्छा लेकर जो पात्र सामने आता है, साधन जुटाकर कर्मवीर की तरह अपने पथ पर अग्रसर होता है, मार्ग में सफलता-असफलता की आशा-निराशा से आँख-मिचौनी खेलता हुआ अबाध और अविश्रांत गति से जो आगे बढ़ता जाता है और अंत में विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करके सफलता का सुस्वादु फल चखता है, नाट्यशास्त्र में उसी को नायक मानने की बात कही गयी है। इस दृष्टि से चंद्रगुप्त को प्रस्तुत नाटक का नायक मानना चाहिए। भारत में यवनों के पैर जमने न देने और इस प्रकार विश्व-विजयोन्माद में मत्त अलक्षेंद्र के आक्रमण को व्यर्थ कर भारतीय स्वतन्त्रता की उज्ज्वलता को विशुद्ध बनाये रखने का प्रण जिस वीर ने किया है, सर्वथा साधनहीन होने पर भी अदम्य उत्साह, अनुपम धैर्य और अनुकरणीय अध्यवसाय के बल पर मार्ग में आनेवाली समस्त बाधाओं पर विजय और अपने इस महान कार्य में पूर्ण सफलता पाकर अंत में मगध का ऐश्वर्य-सम्पन्न साम्राज्य और यवन-राजकुमारी का पूर्व स्मृति की मधुरिमा से युक्त प्रेम जो वीर प्राप्त करता है, वह चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक होने योग्य है। ग्रन्थ का नामकरण उसी के नाम पर किये जाने से लेखक का स्पष्ट संकेत भी यही जान पड़ता है।

परन्तु संकट के प्रत्येक अवसर पर चाणक्य की दूरदर्शिणी बुद्धि का चमत्कार देखकर कभी-कभी दर्शक सोचने लगता है कि अपने शिष्य का भाग्यविधाता यह अद्भुत व्यक्ति क्यों न इस महत्वपूर्ण पद का अधिकारी समझा जाय ? युवावस्था का अदूरदर्शी और आवेशपूर्ण उत्साह लेकर प्रथम दृश्य में ही चन्द्रगुप्त की चपलता जब दर्शकों की दृष्टि में उसे गिराने को होती है, तब चाणक्य का ही उत्साहवर्द्धक वात्सल्य उसकी सहायता करता है। आगे चलकर भी कार्य की सारी गति-विधि का निर्माण, संचालन, यहाँ तक कि इच्छानुकूल अंत भी चाणक्य की ही प्रेरणा और प्रयत्न से होता है। सारांश यह कि नाटक के प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए यदि चन्द्रगुप्त की शक्ति आवश्यक थी तो चाणक्य की बुद्धि की आवश्यकता उससे किसी दृष्टि में कम नहीं है।

यह सब होते हुए भी चन्द्रगुप्त को ही नाटक का नायक स्वीकारने का प्रधान कारण यह है कि चाणक्य भी स्वयं परदे के पीछे रहकर चन्द्रगुप्त को सामने रखना चाहता है। मस्तिष्क को यदि शक्ति का सहारा न मिले तो कोरी कल्पना इस प्रत्यक्ष जगत में कुछ नहीं कर सकती। चाणक्य का मस्तिष्क चन्द्रगुप्त-सी शक्ति पाकर ही अपने प्रयत्न में सफल होता है। चाणक्य के त्याग के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त में नायकोचित सभी सात्विक गुण वर्तमान हैं और एक समय तो चाणक्य तथा सिंहरण के न रहने पर भी उसका उत्साह-सूर्य पूर्ण तेज से चमकता है। भयानक विपत्ति के इस अवसर पर चन्द्रगुप्त की आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास दिखाकर नाटककार संभवतः संकेत करता है कि अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति उसमें पर्याप्त है और चाणक्य के मस्तिष्क की सहायता से वंचित रहने पर भी अपने कर्म-पथ पर वह सोत्साह बढ़ सकता है।

रस—भारतीय नाटक-रचना-प्रणाली में सबसे प्रधान तत्व रस माना गया है। अन्य तत्वों की सार्थकता यही है कि रस की पूर्ण

निष्पति में सहायक हों। विरोध, संघर्ष और युद्ध-प्रधान नाटक में केवल वीर रस की प्रधानता हो सकती ह और यही चन्द्रगुप्त का प्रधान रस माना जा सकता है।

(ग) खटकने वाली दो बातें—पात्र-पात्रियों को संकट की विकट स्थिति में डालकर दर्शक को उत्सुकता बढ़ाना नाटकीय कुशलता का एक अंग है; परन्तु संकटों से पात्रों की रक्षा करते समय ध्यान रखने की बात यह है कि जिन उपायों का सहारा नाटककार ले वे स्वाभाविकता-सरलता का विरोध करनेवाले और बनावटी न हों; ऐसा न जान पड़े कि लेखक ने बरबस किसी पात्र को इस कार्य के लिए यहाँ भेज दिया है। प्रस्तुत नाटक में कई बार ऐसे स्थल आये हैं कि विपत्ति का आभास होते ही संकटापन्न व्यक्ति की रक्षा करनेवाला पात्र उचित अवसर पर इतनी शीघ्रता से पहुँच जाता है जैसे वह पर्दे की पीछे खड़ा देख रहा था कि कब उस पर संकट पड़े और कब में दौड़ूँ। प्रथम अंक, चौथे दृश्य में नन्द का अहेरी चीता पिंजड़े से निकल भागता है। मंच पर कल्याणी और उसकी सखियाँ उसे अभी देख नहीं पातीं कि एक तीर मारकर धनुष हाथ में लिए चन्द्रगुप्त प्रवेश करता है जैसे एहसान जताने आ गया हो। इसी अंक के छठे दृश्य में राजकुमारी अलका से मानचित्र छीनने के लिए यवन ज्यों ही हाथ बढ़ाता है, त्योंही सिंहरण प्रवेश करता है और राजकुमारी की जान में जान आती है। इसके बाद वाले सातवें दृश्य में अमात्य राक्षस चाणक्य को अंधकूप में भेजने की बात सोचता ही है कि प्रहरियों को मार कर चन्द्रगुप्त प्रवेश करता है। कार्नेलिया, कल्याणी, सुवासिनी, पर्व्वतेश्वर आदि अन्य पात्र- पात्रियों के सामने भी इसी तरह के अवसर आते हैं जब उनका संबंधी पात्र—प्रायः उनका प्रिय पात्र—एक क्षण का बिलंब किये बिना ही आ उपस्थित होता है।

खटकने वाली बात ऐसे स्थलों पर यह है कि व्यावहारिक जगत में विपत्तियाँ तो पग-पग पर मिलती हैं, पर उनसे प्राण की रक्षा

करनेवाला शायद ही कभी दिखायी देता हो; और अपवाद-स्वरूप अवसरों को छोड़कर मनुष्य को स्वयं ही सदैव संकट झेलने पड़ते हैं। आकस्मिक और अनुमानित, दोनों प्रकार की विपत्तियों से संकट में पड़े व्यक्ति की सहायता के लिए ठीक अवसर पर दूसरे व्यक्ति का—और ऐसे व्यक्ति का जिससे उसका घनिष्ठ संबंध है, प्रवेश कराना निस्संदेह दर्शक के चित्त को चमत्कृत नहीं करता। बार-बार इसी तरह संकटापन्न पात्रों की रक्षा होते देख दर्शक का कौतूहल भी नहीं बढ़ता; क्योंकि ज्योंही किसी पात्र पर विपत्ति आती है, वह उसका ध्यान छोड़ कर नेपथ्य की ओर देखने लगता है कि इसे बचाने कौन आ रहा है और उसने इतनी देर कहाँ और क्यों लगायी है।

खटकने वाली दूसरी बात नाट्यकथा के समय से संबंध रखती है। यवनकुमारी कार्नेलिया सिकंदर के आक्रमण के समय पिता के साथ भारत आयी है। द्वितीय अंक के आरंभ में हमारा उससे प्रथम परिचय होता है। इस समय उसकी अवस्था लगभग बीस वर्ष की है। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् सिल्यूकस ने भारत पर आक्रमण किया। इतिहास में यह घटना यवनागमन से बीस-बाइस वर्ष बाद की है। युद्ध में भारत सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को बुरी तरह हराया। इसी समय यवन-साम्राज्य पर ऑटिगोनस की चढ़ाई और परिणामस्वरूप भारी विप्लव की आशंका सिल्यूकस को विचलित कर देती है। चाणक्य इस अवसर से पूरा लाभ उठाता है और संधि का मुख्य प्रस्ताव यह सामने रखता है कि राजकुमारी कार्नेलिया का सम्राट् चन्द्रगुप्त से परिणय करके स्थायी संधि कर ली जाय। सिल्यूकस इस प्रस्ताव को 'असंभव और घोर अपमानजनक' समझता है। परंतु चन्द्रगुप्त और राजकुमारी के पूर्व परिचय की बात जानकर दूसरे ही क्षण उसे स्वीकार भी कर लेता है। इस प्रकार लगभग चालीस वर्ष की अवस्था की कार्नेलिया का विवाह सम्राट् चन्द्रगुप्त से होता है।

प्रश्न यह है कि यवन-सम्राट सिल्यूकस ने अपनी पुत्री को इन बीस वर्षों तक अविवाहित क्यों रखा ? क्या कार्नेलिया भी चालीस वर्ष की अवस्था तक अविवाहित इसलिए रही कि उसका चन्द्रगुप्त से विवाह हो जाय ? प्रसाद जी ने कार्नेलिया के हृदय में प्रेम की पूर्व स्मृति के संबंध में यद्यपि संकेत किया है कि उसने चन्द्रगुप्त के विरुद्ध पिता के आक्रमण की सूचना पाकर अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं, तथापि युवावस्था के स्वर्णकाल में उसके अविवाहित रहने का वह स्पष्ट और यथार्थ कारण नहीं कहा जा सकता।

अभिनय के मंच पर सैकड़ों कोसों के व्यवधान का कोई मूल्य नहीं होता, यह कहकर अवस्था के इस अंतर पर भी ध्यान न देने का तर्क, संभव है, इस आक्षेप के उत्तर में उपस्थित किया जाय, और इस दृष्टि से किसी सीमा तक यह ठीक भी होगा कि पचीस-तीस वर्ष का समय अन्य पात्रों के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डालता—बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध, सभी इतना समय बिताने के पश्चात् अन्त तक अपनी पूर्वावस्था के ही बने रहते हैं ; परंतु इतने लम्बे समय में समाप्त होने वाली कथा अपनाना भी निश्चय ही, दोष है और इसलिए इस तर्क से कार्नेलिया की अवस्था-संबंधी खटकने वाली बात के दोष का परिहार नहीं होता। काल की दृष्टि से भी चन्द्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के मन में प्रेममयी स्मृति बसा देना विशेष आकर्षक और चमत्कारपूर्ण नहीं बन सका है। हाँ, इससे यवन-सम्राट सिल्यूकस के गौरव की थोड़ी-बहुत रक्षा हुई मानी जा सकती है; क्योंकि एक क्षण पहले जिस प्रस्ताव को मेगस्थनीज के मुँह से सुनकर घृणा से वह कहता है—'अधम ग्रीक, तुम इतने पतित हो' !—उसी को कार्नेलिया के हृदयाकर्षण की बात सुनकर, वात्सल्य की प्रेरणा से दूसरे ही क्षण स्वीकार कर लता है और सहर्ष कहता है—'तू सुखी हो बेटी ! तुझे भारत की सीमा से दूर न जाना होगा। तू भारत की सम्राज्ञी होगी'।

परिशिष्ट एक—नाटककार प्रसाद

परिचय—

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म सन् १८८९ में सराय गोबर्धन नामक काशी के मुहल्ले में एक प्रतिष्ठित व्यापारी कुल में हुआ। इनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था। वे बनारस में सुँघनी साहु के नाम से विख्यात थे। संस्कृत-शिक्षा के वे प्रेमी थे और उनके दान से अनेक निर्धन विद्यार्थियों ने संस्कृत की शिक्षा पायी थी। इनके यहाँ अनेक कवियों और साहित्य-सेवियों की नित्य गोष्ठी होती थी। इस साहित्यिक वातावरण का 'प्रसाद' जी की रुचि पर स्वाभाविक प्रभाव पड़ा। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई। हिंदी और संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करके ये बनारस के क्वींस कालेज में भर्ती हुए। कालेज में भर्ती होने से इनका उद्देश्य था अँग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करके उसके साहित्य का अध्ययन करना; परंतु वह पूरा न हुआ। ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने मिडिल पास किया ही था कि इनके पिता का स्वर्गवास हो गया और बालक जयशंकर को कालेज छोड़ना पड़ा। पश्चात्, इनके बड़े भाई श्री शंभुरत्न ने इनकी शिक्षा का घर ही पर प्रबंध किया और संस्कृत, हिंदी, फारसी तथा अँग्रेजी पढ़ाने के लिए पंडित और मौलवी नियुक्त किये। यह क्रम नियमित रूप से चार-पाँच वर्ष तक चलता रहा और किशोर जयशंकर को इन भाषाओं की अच्छी जानकारी हो गयी। पिता जी के संस्कृत-प्रेम के फलस्वरूप इनकी भी रुचि संस्कृत की ओर रही और भारतीय संस्कृति के 'प्रसाद'

जी भक्त हो गये। इसी से अपने जीवन के अंतिम वर्षों तक, प्राचीन संस्कृति का आप अध्ययन करते रहे। बँगला भी आपने सीखी थी। हिंदी से तो आपका स्वाभाविक स्नेह था ही। फलस्वरूप, आगे चलकर अपने व्यापार की थोड़ी-बहुत देखभाल करते हुए, आप हिंदी-साहित्य की अमूल्य सेवा में संलग्न रहे।

सन् १९०६ ई० में जब 'प्रसाद' जी की अवस्था १७ वर्ष की ही थी, इनको एक दूसरी विपत्ति का सामना करना पड़ा। उनके अकेले बड़े भाई, जो अब तक व्यवसाय देखा करते थे, अकाल में ही स्वर्गवासी हुए। प्रसाद जी के अध्ययन में इससे बाधा तो पहुँची ही, साथ ही एक बड़े परिवार की देखभाल और इधर-उधर बिखरे हुए व्यवसाय का भार भी इन पर आ पड़ा। बड़े धैर्य से उन्होंने इस विपत्ति का सामना किया। बहुत शीघ्र ही उन्होंने अपने घर का काम-काज तो सम्हाल ही लिया, पिता जी के समय का दान-दक्षिणा का क्रम भी बनाये रखा और स्वाध्याय तथा साहित्य-सेवा में भी कोई कमी नहीं आने दी। निश्चय ही 'प्रसाद' जी कि यह धीरता, क्रियाशीलता और अपने ध्येय की पूर्ति में संलग्नता हमारे लिए अनुकरणीय है। सन् १९३७ में उनका स्वर्ग-वास हो गया। इस समय उनकी अवस्था केवल चालीस वर्ष की थी।

हिंदी-सेवा—

'प्रसाद' जी की बहुमुखी प्रतिभा के कारण हिंदी के प्रायः सभी विद्यार्थी उनसे परिचित हैं। मौलिकता उनकी रचनाओं की प्रधान विशेषता है। उनके प्रादुर्भाव के समय हिंदी-साहित्य की थोड़ी-बहुत बृद्धि तो अवश्य होने लगी थी, परन्तु उसमें मौलिकता नहीं थी। हिंदी में उन दिनों जो पुस्तकें प्रकाशित होती थीं उनमें अधिकांश अनुवादित रहती थीं। यह साहित्य हिंदी का नहीं था और न हिंदीवाले इस पर गर्व ही कर सकते थे। उस समय हिन्दी में मौलिक रचनाओं की बड़ी आवश्यकता थी। 'प्रसाद' जी ने यह कार्य बड़ी सफलता से संपन्न किया।

उन्होंने हिंदी-साहित्य के मुख्यतः दो प्रधान अंगों—नाटक और कविता—में मौलिकता का समावेश किया। उनका विषय नया था, शैली नयी थी और उनका रचनादर्श भी नयापन लिये था। 'प्रसाद' जी की हिंदी साहित्य-सेवा का सबसे अधिक महत्व इसी कारण है।

उनकी दूसरी विशेषता है अपनी कृतियों में एक नवीनता—'कथानक में एक विशेष प्रकार का हृदयाकर्षक चमत्कार'—पैदा कर देना। पाठक को यह नवीनता प्रभावित और आकर्षित करती है; वह चमत्कृत होकर रह जाता है। इस चमत्कार-प्रदर्शन की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसके मूल में वास्तविकता ही रहती है जो क्रमशः चमत्कार की पुट पाकर मार्मिक और प्रभावोत्पादक बन जाती है। 'प्रसाद' जी के नाटकों में नायकों के चरित्र का ध्यान से और कविताओं की सुकुमार भावनाओं का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करने पर यह बात समझ में आ जायगी।

उसके महत्व का तीसरा कारण है हिंदी नाट्य साहित्य के रिक्त भंडार को भरना। हिंदी में, उनके पहल, उल्लेखनीय मौलिक नाटक एक ही दो लिखे गये थे और उनकी शैली, चरित्र-चित्रण आदि में भी विशेष नवीनता नहीं थी। भारतेंदु के पश्चात् साहित्य-सेवियों ने जैसे इस ओर से आँख ही मूँद ली थी। 'प्रसाद' जी ने इस कमी को बड़ी कुशलता से पूरा किया और कई सुन्दर-सुन्दर नाटक लिखे। दो-एक को छोड़कर उसके प्रायः सभी मुख्य नाटकों के कथानक भारत के प्राचीन इतिहास के हिंदूकाल से चुने गये हैं। इनसे हमें 'प्रसाद' जी के प्राचीन साहित्य के अध्ययन, प्राचीन संस्कृति से प्रेम और प्राचीन इतिहास के अन्वेषण का पता लगता है।

नाटकों के साथ साहित्य में उनके काव्य-ग्रंथों का आदर है, तथा प्रचार और अनुकरण भी इनका हिंदी में नाटकों से कुछ अधिक ही हुआ है। प्रसाद जी आधुनिक रहस्यवादी कविता की नवीन धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कविता की ओर उनकी रुचि बाल्यकाल से ही हो गयी थी। सन् १९०० के लगभग ११ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें अपनी

माता की कृपा से अमरकटक, धाराक्षेत्र, उज्जैन, जयपुर, व्रज, अयोध्या आदि अनेक स्थानो की यात्रा करने का शुभ अवसर मिला था। इन स्थानो के प्राकृतिक सौदर्य ने उन्हे प्रकृति का प्रेमी बना कर उनकी काव्य-रुचि को जागरित किया। लगभग १५ वर्ष की ही अवस्था से वे समस्या-पूर्ति करने लगे थे। सन् १९०५ के लगभग इन्होने 'प्रेम-पथिक'नामक काव्य व्रजभाषा मे लिखा था। ६-७ वर्ष बाद उन्होने इसे खड़ी बोली के अनुसार काव्य का रूप दिया। 'महाराणा का महत्व', 'दो कथाएँ' आदि कुछ और भी उनकी रचनाएँ इसी समय की है। उस समय इनका स्वागत नही हुआ। 'प्रसाद' जी ने इसी कारण इन्हे छोड दिया। फिर भी द्विवेदी-काल के 'सरस्वती' के कवियो के ढग पर कविता न करके उन्होने प्रधानत यौवन और प्रेम-विषयक बडी सुन्दर भावात्मक कविताओ की रचना की। आगे चलकर वे व्यजना-प्रधान छायावादी कविता करने लगे। इस प्रकार की रचनाएँ 'प्रसाद' जी प्राय 'इदु' (काशी) मे प्रकाशित कराते थे। इनमे से अधिकाश मे हृदय की अतर्तम भावनाओ और वेदनाओ की व्यजना की गयी है। विश्व-विद्यालय के नवयुवक विद्यार्थियो को ऐसी रचनाएँ विशेष प्रिय है। 'आँसू' (सन् १९२५) इस प्रकार की पहली कृति है, जिसका पर्याप्त प्रचार और अनुकरण हुआ है। इसकी फुटकर कविताओ के तीन सग्रह – 'कानन-कुसुम' (सन् १९१८) 'झरना' और 'लहर' है। इनकी अतिम रचना 'कामायनी' नामक प्रबध-काव्य है। प्रसाद जी की कीर्ति इसके प्रकाशन के पश्चात् से बहुत हो गयी है। रहस्यवादी कवियो मे अब तो उनकी तुलना विश्व-विख्यात स्वर्गीय कवीद्र रवीद्र से की जाने लगी है।

प्रसाद जी की कहानियाँ भी अपनी विशेषता लिए हुए है। उनकी कहानियो का कथानक कविताओ की तरह ही, सामाजिक या राजनीतिक नही है, प्रत्युत उनमे 'जीवन की एक समस्या, मानसिक वृत्ति-सबधी एक प्रश्न अथवा हृदय की एक आतरिक सुकुमार भावना' है जो सहृदय के

मर्मस्थल को छू लेती है। इन्होने लगभग ७० अतर्द्वद्व-प्रधान कहानियाँ लिखी ह। 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इद्रजाल' इनके पाँच कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके है।

'ककाल' और 'तितली' नामक दो उपन्यास भी इन्होने लिखे है जिनमें आधुनिक भारत की वह झलक मिलती है, जो प्राचीन भारतीय सस्कृति के प्रेमी को अधिक रुचिकर नही हो सकती। सामाजिक होते हुए भी ये उपन्यास उनकी कहानियो की तरह भाव-प्रधान ही है।

प्रसाद जी ने कविता, कला, छायावाद आदि से सबधित विषयो पर कुछ निबध भी लिख है। इनसे उनके तत्सबधी विचारो और आदर्शों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ये निबध प्राय गवेषणात्मक शैली में लिखे गये है।

अतिम विशेषता है प्रसाद जी की साहित्यिक शैली, जिसके कारण उनकी प्रायः सभी गद्य रचनाएँ—निबधो को छोड़ कर— गद्य-काव्य का-सा आनद देती है। द्विवेदी जी के सरल भाषा-प्रचार-सबधी आदोलन के बहुत तीव्र होने पर भी वे भाषा के साहित्यिक रूप को ही अपनाये रहे और उन्होने अपनी भाषा का रूप नही बिगाड़ा। आज उनकी भाषा का साहित्यिक रूप भी उनके महत्व का कारण समझा जाने लगा है।

ग्रंथ—

प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। नाटको और काव्यो के लिए तो वे प्रसिद्ध है ही, साथ ही उन्होने कहानियो और उपन्यासो की रचना की है। कुछ निबध भी उन्होने लिखे है। आपके प्रसिद्ध ग्रथ ये है—

(क) नाटक—'सज्जन', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कदगुप्त', 'राज्यश्री', 'एक घूँट' और 'ध्रुव स्वामिनी'।

'सज्जन' और 'विशाख' ब पहले लिखे गये थे। इनमे कोई उल्लेखनीय विशेषता नही है। अन्य अधिकाश नाटक—जैसा नाम से ही स्पष्ट है—ऐतिहासिक है, जो हमें हिंदू-शासको के स्वर्णकाल, मौर्य और

गुप्त सम्राटों के समय की भारतीय संस्कृति का चित्र दिखलाते हैं। इन नाटकों में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्य शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण मिलता है। पात्रों का चरित्र-चित्रण भी प्रसाद जी ने सुन्दर ढंग से किया है।

(ख) काव्य—'करुणालय','प्रेमपथिक'—१९१३, 'कानन-कुसुम'—१९१८, 'आँसू'—१९२५, 'झरना', 'लहर', 'कामायनी'।

पहली पुस्तक अतुकांत गीति-नाट्य है और दूसरी अतुकांत प्रेम-काव्य। ये दोनों प्रसादगुणपूर्ण और सरल हैं। इस समय वे व्रजभाषा में लिखा करते थे, परन्तु बाद में, सम्भवतः द्विवेदी जी के आंदोलन से प्रभावित होकर उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। इनकी रचनाओं का मुख्य विषय प्रेम है, जो वासना-प्रधान होने पर भी 'लोकोत्तर-प्रेमालंबन की ओर उन्मुख होने लगता है।' इनकी भावात्मक कविताएँ बड़ी सुन्दर हैं।

(ग) कहानी-संग्रह—'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'नवपल्लव,' 'आंधी', 'आकाशदीप'।

'ग्राम' प्रसाद जी की पहली मौलिक कहानी है, जो सन् १९११ में 'इन्दु' (काशी) में प्रकाशित हुई थी और 'छाया' उनकी प्रारंभिक कहानियों का पहला संग्रह। 'आकाशदीप', 'बिसाती,' 'देवदासी,' 'चूड़ीवाली,' 'प्रतिध्वनि' आदि उनकी प्रथम श्रेणी की कहानियां हैं।

(घ) उपन्यास—'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती (अपूर्ण)।'

यद्यपि प्रसाद जी ने केवल दो ही पूर्ण उपन्यास लिखे हैं तथापि उपन्यास-लेखकों में उनका नाम आदर से लिया जाता है। सामाजिक होते हुए भी ये उनकी कहानियों की तरह भावप्रधान हैं।

परिशिष्ट दो—हिंदी नाटक का विकास

'नाटक' शब्द की उत्पत्ति 'नट्' धातु से है जिसका तात्पर्य नृत्य से है; परंतु आरंभ से ही साहित्य के इस अंग का घनिष्ठ सम्बन्ध अभिनय या अनुकरण और वार्तालाप से भी रहा है। ये तीनों क्रियाएँ मनुष्य-प्रकृति के अंतर्गत प्रधान स्थान की अधिकारिणी हैं। यही कारण है कि अधिकांश देशों में सभ्यता के विकास के साथ नाटकीय कला का भी विकास हुआ है। और भारतवर्ष में तो नाटकों के अस्तित्व के चिह्न ऋग्वेद-काल तक में पा जानेवालों की भी कमी नहीं है। जो हो, निश्चित रूप से यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि संस्कृत-साहित्य का यह अंग सभी दृष्टियों से समृद्ध है।

प्रारंभिक नाटक—

हिन्दी नाटक की प्रगति के सम्बन्ध में सबसे पहली ज्ञातव्य बात यह है कि उसका विकास लगभग पिछले सौ वर्षों में ही हुआ। इसके पहले कुछ नाटक लिखे अवश्य गये, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से महत्व पूर्ण न होने के कारण उनका विशेष प्रचार न हुआ। यदि यह कहा जाय कि केवल शांतिमय वातावरण पाकर ही पिछले सौ वर्षों में नाटक का विकास हुआ तो यह उचित न होगा। भारत में शांति मुगल-काल में भी पर्याप्त रही और गायन, वादन आदि उन अनेक कलाओं का, जिनकी प्रगति के लिए शांतिमय वातावरण नितांत अपेक्षित है, समुचित विकास भी हुआ। दूसरी बात यह कि संस्कृत-साहित्य-भंडार

जिस प्रकार अन्य विषयों में पूर्ण है उसी प्रकार नाट्य साहित्य में भी। फिर क्या कारण है कि साहित्य के अन्य अंगों को संस्कृत से ऋण-रूप में निसंकोच लेकर भी हम नाट्य साहित्य के विषय में उदासीन बने रहे ?

पहली बात का उत्तर यह है कि मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों में गायन, वादन आदि अभिनय-सम्बन्धी कलाओं का निषेध किया गया है। संभवतः इसी से मुसलमानों के राज्य में शांति रहते हुए भी नाटकों की रचना की ओर लेखकों और कवियों का ध्यान नहीं गया। इस सम्बन्ध में एक शंका यह की जा सकती है कि मुसलमानों के साथ-साथ अनेक हिंदू राजा भी तो बराबर बने रहे है; उनके यहाँ तो इनका निषेध नही था। ये तो संस्कृत के साथ हिंदी को भी अपने यहाँ सहर्ष आश्रय देते थे। तब नाटक का विकास न होने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में केवल इतना ही कहकर संतोष किया जा सकता है कि उस युग के साहित्यकार का ध्यान काव्य-रचना में केंद्रित था और पाठक वर्ग की रुचि भी उसी में थी। जो दो-चार लेखक गद्य और पद्य-नाटक-रचना में प्रवृत्त भी हुए उन्होंने प्रोत्साहन के अभाव में इस दिशा में आगे काम करना लाभदायक नहीं समझा।

दूसरी बात के उत्तर में कहा जा सकता है कि हिंदी-साहित्य के विकास के समस्त युगों में साहित्य-साधना वैयक्तिक रूप में हुई, सामूहिक रूप में नहीं। भक्त-कवि तो समाज और समूह से दूर थे ही, दरबारी कवि भी एकमत नहीं थे और अभिनय के लिए एकता अनिवार्य है। वस्तुतः यह आश्चर्य की बात है कि जो साहित्य-प्रेमी शासक अपनी रसिकता दिखाने के लिए शृंगारी कवियों को आश्रय देते थे, उन्होंने ही शृंगार-भावना को उद्दीप्त करने के इस प्रमुख साधन को क्यों नहीं अपनाया ?

हिंदी-साहित्य की सृष्टि उस काल में हुई जब मुसलमान शासकों के प्रभाव में आकर पुरुषों और स्त्रियों का रंगमंच पर गाना-नाचना

नैतिक दृष्टि से बुरा समझा जाने लगा था। परदे की प्रथा मुसलमान शासकों के समय से चली और हिंदू शासितों में उन जातियों ने उसे विशेष रूप से अपनाया जिनमें शक्ति या शौर्य का अभाव था। राजपूतों का मुसलमानों से विशेष संपर्क रहा। इसलिए यद्यपि ये हिंदी के पोषक रहे, तो भी भक्ति अथवा रीतिमार्गी काव्य के अतिरिक्त हिंदी के किसी अन्य साहित्यक अंग को उन्होंने प्रोत्साहन नहीं दिया। यों, जब भारतेंदु-काल से हिंदी में नाटक साहित्य की ओर साहित्यिकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ, उसके लिए रंगमंच का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति अभी तक नहीं हुई है, यद्यपि नाटक आज बड़ी संख्या में हैं। हिंदी में नाटकों की रचना का जब आरंभ हुआ तब केवल शांतिमय वातावरण ही इसका कारण नहीं था; अस्तु। भारतेंदु हरिश्चंद्र से पहले लिखे गये जो नाटक प्राप्त हुए हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—

१. रामायण महानाटक—सन् १६१० में प्राणचंद चौहान ने लिखा; यह संवाद-रूप में काव्य है।

२. हनुमन्नाटक—सन् १६२३ में हृदयराम ने संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर पद्य में बनाया।

३. प्रबोध-चंद्रोदय—संस्कृत से इसी नाम के नाटक का अनुवाद सन् १६४३ के लगभग किया गया। इसके अनुवादक जोधपुर-नरेश महाराज जसवंतसिंह (सन् १६२६-७८) थे। यह नाटक व्रजभाषा गद्य-पद्य में है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लेखक के भावों की सावधानी से रक्षा करते हुए संस्कृत के नाटक का प्रायः शाब्दिक अनुवाद किया गया है। भारतेंदु के पूर्ववर्ती नाटककारों की अनुवादित कृतियों में कदाचित् यही रचना सर्वश्रेष्ठ है।

४. शकुन्तला—सन् १६८० मे नेवाज कवि ने यह नाटक व्रज भाषा पद्य में बनाया।

५ सभासार—सन् १७०० में रघुराम ने व्रजभाषा में लिखा।

६. करुणाभरण—सन् १७०० में कृष्ण जीवन लछीराम ने दोहे-चौपाइयों में बनाया।

७. माधव-विनोद—सन् १७५२ में सोमनाथ ने 'मालती-माधव' का अनुवाद किया। आगे चलकर सत्यनारायण कविरत्न ने इसका पुनः अनुवाद करने में इससे सहायता ली।

८. जानकी-रामचरित—सन् १७९३ में हरीराम ने पद्य के साथ खड़ी बोली गद्य में यह नाटक लिखा। पद्य की भाषा भी खड़ी बोली से प्रभावित है।

९. रामलीला-विहार—सन् १७९३ में यह नाटक लक्ष्मणशरण 'मधुकर' ने लिखा।

१०. आनंदरघुनंदन—रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह (सन् १६६१-१७४०) ने सन् १७०० के आसपास लिखा। इसमें राम की जीवन-कथा सात अंकों में दी गयी है। यद्यपि इसकी गद्यपद्यमय व्रजभाषा आज की दृष्टि से अस्तव्यस्त ही कही जायगी, फिर भी लेखक का मौलिक प्रयत्न होने के कारण भारतेंदु के पूर्ववर्ती नाटकों में इस रचना का महत्वपूर्ण स्थान है।

११. गीत-रघुनंदन—यह नाटक भी रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ-सिंह का लिखा हुआ है; परन्तु इसे 'आनंद-रघुनंदन' के समान प्रसिद्धि नहीं मिली।

१२. नहुष-नाटक—सन् १८४१ में भारतेंदु के पिता गोपालचंद, उपनाम 'गिरधरदास', ने व्रजभाषा के गद्य और पद्य में लिखा; परन्तु गद्य लगभग पाँचवाँ भाग है।

१३. प्रद्युम्न-विजय—सन् १८४९ में गणेश कवि ने लिखा। ये नाट्य-शास्त्र के पंडित जान पड़ते हैं।

१४. जानकी मंगल—यह नाटक सन् १८६२ में लिखा गया था। यह आज उपलब्ध नहीं है; इसीलिए इसका विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता। परन्तु इसकी चर्चा भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' शीर्षक

निबन्ध में की है और इसे उन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम अभिनय-योग्य नाटक माना है।

१५. अभिज्ञान शाकुंतल—सन् १८६३ में राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२३-९६) ने संस्कृत में अनुवाद किया। सन् १८६३ में सारा नाटक गद्य में, पर सन् १८९० में गद्य का गद्य और पद्य का पद्य छपाया गया। इसका गद्य खड़ी बोली और पद्य व्रजभाषा में है।

१६. उत्तर-रामचरित - सन् १८७१ में देवीदत्त त्रिपाठी ने बनाया। यह प्रधानतः गद्य में है, केवल कुछ दोहे पद्य में हैं।

नाटकों की इस परम्परा से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार हिंदी-साहित्य अन्य विषयों में संस्कृत-साहित्य के ग्रंथों से निःसंकोच सहायता लेता रहा, उसी प्रकार प्राचीन नाटकों के आधार पर कुछ नाटक भी रचे गये। अभिनय की चिन्ता से मुक्त रहने के कारण अपने अपने अनुवादित नाटकों को कवि और लेखकों ने मन-माना रूप दिया। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में लिखे नाटक अधिकांश में पद्यमय हैं; कुछ में तो प्रस्तावना-रूप में भी गद्य के दर्शन नहीं होते। हां, उन्नीसवीं शताब्दी में लिखित अथवा अनुवादित नाटकों में थोड़ा-बहुत गद्य मिलता है यद्यपि कुछ नाटक पूरे पद्य में भी हैं। इसका कारण अनुवादकों में भावों को सुन्दर रूप से पद्य-बद्ध करने की क्षमता समझना चाहिए अथवा उनकी रुचि-विशेष, कहा नहीं जा सकता।

प्रथम विकास-काल—

नाट्यकला की दृष्टि से उक्त नाटकों में केवल 'प्रबोध-चंद्रोदय', 'आनंद-रघुनंदन' और 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का नाम उल्लेखनीय है। शेष नाटक साधारण हैं और नाटकीय तत्वों का उनमें अभाव है। इनका अध्ययन करके अपेक्षित गुणों का अपने नाटकों में समावेश करने का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हुआ। भारतेन्दु जी का

चनाकाल सन् १८६८ में १८ वर्ष की अवस्था से आरम्भ होता है। नाटक रचने की प्रेरणा इन्हें बंगीय नाटकों का अभिनय देखने पर मिली। अपने ७-१८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में इन्होंने लगभग इतने ही अनुवादित और मौलिक नाटकों की रचना की जिनको निम्न-लिखित तीन वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) अनुवादित—रत्नावली नाटिका (१८६८), पाखंडविडम्बन (१८७२), धनंजय-विजय (१८७३), कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस (१८७८) और दुर्लभबन्धु (१८८०)।

(ख) रूपांतरित नाटक—विद्यासुंदर (१८६८) और सत्य हरिश्चन्द्र (१८७४)।

(ग) मौलिक नाटक—प्रेस-जोगिनी (१८७५) चंद्रावली (१८७६) भारत जननी (१८७७), भारत-दुर्दशा (१८८०), नीलदेवी (१८८१) और सती-प्रताप (१८८३)।

(घ) प्रहसन—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३), विषम विषमौषधम् (१८७७) और अंधेर नगरी (१८८१)।

भारतेंदु जी की अनुवादित रचनाओं में 'रत्नावली' और 'मुद्रारा-क्षस', रूपांतरित में 'सत्य हरिश्चन्द्र'; और मौलिक में 'चन्द्रावली' और 'नीलदेवी' श्रेष्ठ हैं। उद्देश्य विशेष में लिखे हुए ओजपूर्ण नाटकों में 'भारत दुर्दशा' बहुत प्रभावशाली है। भाषा के अतिरिक्त इनके नाटकों की विशेषता थोड़े परिवर्तन के पश्चात् इनका अभिनय योग्य हो जाना है। इनकी शैली में प्राचीन भारतीय नाट्य तत्वों और नवीन पाश्चात्य नियमों का सामंजस्य-सा मिलता है। संस्कृत के तत्वों का अध्ययन तो इन्होंने थोड़ा-बहुत मूल ग्रंथों के आधार पर किया था; किन्तु पाश्चात्य का बँगला के द्वारा। फल यह हुआ कि पाश्चात्य और भारतीय परम्परा जिस अनुचित अनुपात के सम्मिलित रूप में बँगला में प्रचलित थी, वही भारतेंदु जी अपना सके। इस दृष्टि से यह सत्य है कि भारतेंदु के नाटकों पर बंगीय नाट्य साहित्य का प्रभाव पड़ा। बँगला के कई

नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया और कुछ की सहायता लेकर नये नाटक भी रचे। इसी प्रकार संस्कृत नाट्य साहित्य से भी उन्होंने सहायता ली।

भारतेन्दु के नाटक प्रायः पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक हैं। इनके विषयों से हमें लेखक के आदर्श और विचारों के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ ज्ञात हो सकता है। हाँ, अनुवादित नाटकों से हमें लेखक की रुचि का पूरा-पूरा परिचय नहीं मिलता और भारतेंदु के अनुवादित नाटक ही अधिकांश में पौराणिक हैं। यदि हम इन्हें भारतेंदु के नाट्य साहित्य से अलग कर दें तो विशेषतः वे ही नाटक बच रहते हैं, जिनका विषय समाज या इतिहास से सम्बन्धित है। इन्हें लेकर उन्होंने समाज और देश की तत्कालीन गिरी हुई दशा का दिग्दर्शन कराया और वह उनके स्वतन्त्र निरीक्षण का परिचायक माना जा सकता है। 'चंद्रावली'-जैसी नाटिकाओं में प्रेम का जो विस्तृत और मनोहर विवेचन मिलता है, वह मौलिक नहीं है; उस पर परिपाटी और संस्कारों का प्रभाव अधिक पड़ा है, रुचि का कम। आशय यह कि बड़े घर में पैदा होकर, रसिकवर बन जाने के कारण, मनोरंजन और विनोद के उद्देश्य से ही उन्होंने ऐसे नाटकों की रचना की। इनका कथा-संगठन सफल कहा जायगा। इस सफलता की कसौटी यह है कि कथानक के विकास के लिए एकत्र की हुई मुख्य प्रासंगिक घटनाओं का उतना ही विवेचन किया जाय जितना विषय को स्पष्ट करने और स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त हो। भारतेंदु के नाटकों में यद्यपि कहीं-कहीं उद्देश्य विशेष से कथोपकथन कुछ लम्बे-लम्बे भाषणों के रूप में हो गये हैं, तथापि उनमें शिथिलता नहीं है। इसका एक कारण यह है कि उन्होंने लकीर के फकीर न बनकर सर्वत्र उचित स्वतन्त्रता से काम लिया। लंबे-लंबे भाषण जैसे अवतरण 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में मिलते हैं। कला की दृष्टि से तो वे महत्व के नहीं हैं, न इन्हें स्वाभाविक ही कह सकते हैं और न इनसे पात्रों के चरित्र-चित्रण में ही

अधिक सहायता मिलती है; परन्तु विषय की स्पष्टता और उद्देश्य की पवित्रता के कारण ये अधिक खटकते भी नहीं।

अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में भारतेंदु जी कितना सफल हुए, इस बात की विवेचना केवल इन्हीं नाटकों को लेकर की जा सकती है जो या तो पूर्ण रूप से मौलिक हों अथवा अनुवादित होते हुए भी जिनकी रचना में पर्याप्त और वांछनीय स्वतन्त्रता से नाटककार ने काम लिया हो। मौलिक नाटकों के सम्बन्ध में भी इतना ध्यान रखना चाहिए कि जिनकी रचना विषय अथवा विचारों के प्रचार के निमित्त की जाती है, उनमें नाटककार को अपने पात्रों के चरित्र का यथोचित विकास करने का पूर्ण अवसर नहीं मिलता। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ऐसा ही उद्देश्य-विशेष में लिखा हुआ प्रहसन है। 'भारत-दुर्दशा' और 'भारत-जननी' यद्यपि इस कोटि में नहीं आते तथापि लिखे ये भी निजी विचारों के प्रचारार्थ ही गये थे। अतः नाटकों की रचना के ध्येय और आदर्श का ध्यान रखकर चरित्र-चित्रण की विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि भारतेंदु जी मानसिक द्वंद्व की व्याख्या की ओर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना सामान्य आदर्श का दिग्दर्शन कराने की ओर। हरिश्चंद्र सत्य का आदर्श व्रती है, शैव्या आदर्श पतिव्रता स्त्री है, 'नीलदेवी' का नायक सूर्यदेव सच्चा वीर राजपूत है, रानी नीलदेवी वीरता की दृष्टि से आदर्श ही है, 'चंद्रावली' नाटिका की चंद्रावली का प्रेम भी आदर्श और स्वाभाविक है।

इस युग के अन्य नाटककारों तथा भारतेंदुजी के मित्रों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं, उनकी सूची काफी लंबी है और उनमें कुछ ही नाटक-कला और अभिनय की दृष्टि से सुन्दर और सफल हैं। विषय को ध्यान में रखते हुए इस समय की प्रमुख कृतियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) पौराणिक नाटक—शिवनंदन सहाय का सुदामा १८७०, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का प्रहलाद १८७४, देवकीनंदन

त्रिपाठी के सीताहरण तथा रुक्मिणी-हरण १८७६, कंस-वध तथा रामलीला १८७९ ; अंबिकादत्त व्यास का ललिता १८८४, खड्ग-बहादुर मल्ल-कृत महारास १८८५ और कल्पवृक्ष १८८६; बालकृष्ण भट्ट का दमयंती-स्वयंवर १८८५ आदि ।

(ख) ऐतिहासिक नाटक—राधाकृष्णदास का पद्मावती १८८२, काशीनाथ खत्री-कृत तीन परम मनोहर ऐतिहासिक रूपक १८८४, श्री निवासदास का संयोगिता-स्वयंवर १८८५, राधाचरण गोस्वामी का अमरसिंह राठौर १८९५, प्रतापनारायण मिश्र-कृत हठी हमीर और बालकृष्ण भट्ट-कृत चन्द्रसेन ।

(ग) राष्ट्रीयता-प्रधान नाटक—शरत्कुमार मुकर्जी-कृत भारतोद्धार १८८३, खड्गबहादुर मल्ल-कृत भारत-आरत १८८५, अंबिकादत्त व्यास-कृत भारत-सौभाग्य १८८७, बदरीनारायण 'प्रेमघन'-कृत भारत-सौभाग्य १८८८, देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत भारत-हरण १८९९ और प्रतापनारायण मिश्र-कृत भारत-दुर्दशा ।

(घ) सामाजिक नाटक—रुद्रदत्त शर्मा-कृत अबला-विलाप १८८४ और पाखंड मूर्ति १८८८; जगन्नाथ भारतीय-कृत वर्ण-व्यवस्था १८८७, राधाकृष्णदास-कृत दुखिनी बाला १८८०, देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत बाल-विवाह और गो-वध-निषेध १८८१ ; काशीनाथ खत्री-कृत विधवा-विवाह १८८२ और बाल-विधवा-संताप ; तोताराम-कृत विवाह-विडंबन १६८४, प्रतापनारायण मिश्र-कृत कलि-कौतुक और गोसंकट १८८६; खड्गबहादुर मल्ल-कृत हरतालिका १८८७, अंबिकादत्त व्यास-कृत गो-संकट १८८८ ।

(ङ) विविध विषयक नाटक—श्रीनिवासदास कृत रणधीर-प्रेममोहिनी १८७७ और तप्तासंवरण १८८३; नानकचन्द कृत-चंद्रकला १८८३, खड्गबहादुरमल्ल-कृत रतिकुसुमायुध १८८५, किशोरीलाल गोस्वामी-कृत प्रणयिनी-परिणय और मयंक-मंजरी १८९१; गोपालराम-कृत विद्या-विनोद १८९२ ।

(च) प्रहसन – देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत जय नरसिंह की १८७६, स्त्री-चरित्र और एक-एक के तीन-तीन १८७९; राधाचरण गोस्वामी-कृत बूढ़े मुँह मुँहासे १८८७, तन-मन-धन गोसाईं जी के अर्पण १८९० और भंग-तरंग १८९२; किशोरी लाल गोस्वामी-कृत चौपट चपट १८९१, गोपालराम गहमरी-कृत दादा और मैं १८९३, राधाकांतलाल-कृत देसी कुत्ता विलायती बोल १८९८ ।

उक्त नाटकों में अधिकांश कला की दृष्टि से बहुत साधारण हैं ; परन्तु उनके नामों से लेखकों की सामाजिक और सामयिक विषयों के प्रति रुचि स्पष्ट हो जाती है—यही इस नामावली को प्रस्तुत करने का मुख्य उद्देश्य है ।

सारांश यह कि नाटकों के प्रथम विकास-काल में भारतेंन्दु जी तो अपने प्रयत्न में पर्याप्त सफल रहे ही, उनके समकालीन उक्त साहित्य-सेवियों ने भी, जिनमें प्रतापनारायण मिश्र,बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास, तोताराम, काशीनाथ खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी, देवकीनन्दन त्रिपाठी, खड्ग बहादुर मल्ल आदि मुख्य हैं, भारतेंदु का अनुकरण करके अनेक मौलिक और अनुवादित नाटकों की रचना की । कथानक के संगठन, विषय की नवीनता और चरित्र-चित्रण के संबंध में इन लेखकों का आदर्श भी उन्हीं से मिलता-जुलता था । इस युग के उक्त साहित्य-सेवियों के सम्मिलित उद्योग से हिन्दी नाट्य साहित्य में मुख्य कार्य यह हुआ कि हिंदी लेखक इस ओर आकृष्ट हो गये । भारतेंदु ने संस्कृत और बँगला से तथा उनके समकालीनों ने, उनके अतिरिक्त, अँग्रेजी साहित्य में भी कुछ नाटकों का अनुवाद किया ।

द्वितीय विकास-काल–

हिंदी नाट्य साहित्य के विकास के दूसरे युग में नाटक-रचना

का काम पूर्ववत् अनिश्चित गति से ही चलता रहा। इस समय लिखे गये अथवा अनुवादित प्रमुख नाटक ये हैं—

१. संस्कृत से अनुवादित—इस दिशा में सब से पहला प्रयत्न राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। उनके पश्चात् उल्लेखनीय कार्य करनेवाले रायबहादुर लाला सीताराम थे। सन् १८८७ उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के अनुवादों में हाथ लगाया और लगभग १५ वर्ष में 'नागानन्द', 'मृच्छकटिक', 'उत्तररामचरित', 'मालतीमाधव', 'मालविकाग्निमित्र' आदि का गद्य और पद्य में अनुवाद किया। इनका गद्य-भाग जितना सरल और स्पष्ट है उतना पद्य-भाग नहीं। इनके साथ-साथ पं० ज्वालाप्रसाद (मुरादाबाद) ने 'वेणीसंहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल', बा० बालमुकुन्द गुप्त ने 'रत्नावली' नाटिका, पं० सत्यनारायण कविरत्न ने 'उत्तररामचरित' और 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कई दृष्टियों से इनमें से कुछ अनूदित ग्रंथ सफल कहे जा सकते हैं।

२. बँगला से अनुवादित—इस क्षेत्र में काम करने वालों में बनारस के बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू गोपालराम गहमरी का नाम पहले आता है। वर्मा जी ने 'वीरनारी,' 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती' नामक नाटकों का अनुवाद किया और गहमरी जी ने 'वनवीर', 'वभ्रुवाहन,' 'चित्रांगदा,' 'देश-दशा' और 'विद्याविनोद' का। इनके पश्चात् बँगला से नाटकों का अनुवाद करने में सबसे अधिक सफलता पं० रूपनारायण पांडेय को मिली। इन्होंने द्विजेन्द्रलाल के 'उस पार', 'शाहजहाँ,' 'दुर्गादास', 'ताराबाई; ठाकुर रवीन्द्रनाथ के 'अचलायतन', गिरीशघोष के 'पतिव्रता' और क्षीरोदप्रसाद के 'खाजहाँ' नामक नाटकों के अनुवाद किये। शेष अनुवादकों में महत्वपूर्ण कार्य बंबई के श्री नाथूराम प्रेमी का समझा जाता है।

३. अँगरेजी से अनुवादित—अँगरेजी भाषा का अध्ययन जब भली-भाँति किया जाने लगा तब उसके साहित्य से अपने देशवासियों को परिचित कराना हिंदी-भाषा-भाषियों ने आवश्यक समझा। भारतेंदु-युग

में यह कार्य अधिक नहीं हुआ; परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में इस दिशा में कार्य प्रारंभ अवश्य हो गया। सन् १८९५ के लगभग जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'रोमियो जूलिएट' (प्रेमलीला), 'ऐज यू लाइक इट' और 'मर्चेंट आव बेनिस' (बेनिस का बैपारी) नामक शेक्सपियर के तीन नाटकों का अनुवाद किया। इसके पश्चात् पं० मथुरा प्रसाद चौधरी ने 'मैकबेथ' और 'हैमलेट' का अनुवाद 'साहसेंद्र साहस' और 'जयंत' नाम से किया। पिछले में मूल अँगरेजी के मराठी में अनुवादित नाटक से भी सहायता ली गयी थी।

४. मौलिक नाटक—इस युग में प्रधानता अनूदित नाटकों की रही, पर दस-पाँच मौलिक नाटक भी लिखे गये। इनको विषय की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) पौराणिक नाटक—महावीरसिंह-कृत नल-दमयंती १९०५, गौरचरण गोस्वामी-कृत अभिमन्यु-वध १९०६, व्रजवल्लभ-कृत रामलीला १९०८, शिवनन्दनसहाय-कृत सुदामा १९१०, रामनारायण मिश्रकृत कंसवध १९१०, लक्ष्मीप्रसाद-कृत उर्वशी १९१०, बद्रीनाथ भट्ट-कृत कुरुवन-दहन और पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत रुक्मिणी-परिणय तथा प्रद्युम्न-विजय।

(ख) ऐतिहासिक नाटक—राय देवीप्रसाद-कृत चंद्रकला-भानुकुमार १९०४, शालिग्राम-कृत पुरु-विक्रम १९०६, बद्रीनाथ भट्ट-कृत चंद्रगुप्त और तुलसीदास १९१५।

(ग) सामयिक—सामाजिक और राष्ट्रीयता-प्रधान—नाटक—भगवती प्रसाद-कृत वृद्ध-विवाह १९०५, गौरचरण गोस्वामी-कृत भूषण-दूषण १९०६, राधामोहन गोस्वामी-कृत भारत-रहस्य, कृष्णानंद जोशी-कृत 'उन्नति कहाँ से होगी' १९१५।

(घ) रंगमंचीय नाटक—आगा हश्र काश्मीरी-कृत—सूरदास, गंगा-अवतरण, बनदेवी, सीता-बनवास, मधुर मुरली, श्रवण-कुमार, बर्मी बालक या गरीब की दुनियाँ, भीष्म-प्रतिज्ञा और आँख का नशा;

राधेश्याम कथावाचक-कृत—वीर अभिमन्यु, परिवर्तन, श्रीकृष्णावतार, रुक्मिणी-मंगल, श्रवण-कुमार, ईश्वर-भक्ति, द्रौपदी-स्वयंवर, परम भक्त प्रहलाद, ऊषा-अनिरुद्ध, महर्षि वाल्मीकि, शकुंतला,सती पार्वती; नारायण प्रसाद बेताब-कृत - गोरख-धंधा, महाभारत, जहरी साँप, रामायण, पत्नी-प्रताप

(ङ) प्रहसन—बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'चुंगी की उम्मेदवारी।'

उक्त सूची से एक बात यह स्पष्ट हो जाती है कि हिंदी-नाटकों के द्वितीय विकासकाल में अनुवादों की ही प्रधानता रही ; जो मौलिक नाटक लिखे भी गये उनका विषय मुख्यतः प्राचीन पौराणिक कथाओं से ही लिया गया। उनमे मौलिकता विषय की तो थी ही नहीं, कहीं-कहीं कथोपकथन भी प्राचीनता की छाया लिये हुए थे और उनमें नाटकीय तत्वों का भी अभाव था। 'पूर्ण' जी का 'चंद्रकला भानुकुमार' नाटक, विषय के लिए, प्राचीन ऐतिहासिक कहानी पर निर्भर रहते हुए भी मौलिक और सुन्दर है। भाषा भी इसकी अच्छी है, परंतु बहुत बड़ा होने के कारण यह अभिनय-योग्य न था; हाँ, साहित्यिक दृष्टि से यह पठनीय अवश्य है।

तृतीय विकास-काल—आधुनिक युग : पूर्वार्द्ध—

सन् १९२० के पश्चात् नाटक-साहित्य ने बड़ी उन्नति की। विविध भाषाओं के नाटकों के अनुवाद इन वर्षों में किये अवश्य गये, परन्तु मौलिक नाटकों की ओर लेखकों का ध्यान अधिक रहा; मौलिक नाटक कारों में स्व० बाबू जयशंकर प्रसाद सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी कृतियाँ भी सर्वथा मौलिक हैं। इनकी तथा इस युग के अन्य नाटककारों की कृतियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

(क) पौराणिक नाटक—मैथिलीशरण गुप्त-कृत तिलोत्तमा और चंद्रहास १९१६, तथा अनघ १९२५; विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक-कृत भीष्म१९१८; शिवनंदन मिश्र-कृत उषा १९१८; द्वारिकाप्रसाद गुप्त

कृत अज्ञातवास १९२१, बद्रीनाथ भट्ट-कृत बेन-चरित्र १९२१, मिश्र-बन्धु-कृत पूर्व भारत और उत्तर भारत १९२३; सुदर्शन-कृत अंजना १९२२, गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत दिलीप १९२९ और कामता प्रसाद गुरु-कृत सुदर्शन १९३१।

(ख) ऐतिहासिक नाटक—जयशंकर 'प्रसाद'-कृत कल्याणी-परिणय १९१२, राज्यश्री १९१५, विशाख १९२१, जनमेजय का नागयज्ञ १९२६, अजातशत्रु १९२८, स्कंदगुप्त १९२८, चंद्रगुप्त १९३१ और ध्रुवस्वामिनी १९३३; सुदर्शन-कृत दयानंद, बलदेव प्रसाद मिश्र-कृत मीराबाई १९१८, बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत महात्मा ईसा १९२२, प्रेमचंद-कृत कर्बला १९२४, बद्रीनाथ भट्ट-कृत दुर्गावती १९२६, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद-कृत प्रताप-प्रतिज्ञा १९२८।

(ग) सामयिक, सामाजिक, राष्ट्रीयता और समस्या-प्रधान नाटक—प्रेमचंद-कृत संग्राम १९२२, गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत राधामाधव १९२२, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी-कृत मधुर मिलन १९२३, तथा प्रेमचंद-कृत प्रेम की वेदी १९३३।

(घ) प्रहसन—जी० पी० श्रीवास्तव-कृत उलट-फेर, दुमदार आदमी १९१९, गड़बड़झाला १९१९, मरदानी औरत और भूल-चूक १९२०; गोविन्दवल्लभ पंत-कृत कंजूस की खोपड़ी १९२३, बद्रीनाथ भट्ट-कृत लबड़ धों-धों १९२६, विवाह-विज्ञापन १९२७, और मिस अमरीकन १९२९; बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत चार बेचारे १९२९ एवं सुदर्शन-कृत आनरेरी मजिस्ट्रेट।

इस युग के आरम्भ में स्वर्गीय माधव शुक्ल ने भी दो-एक नाटक लिखकर इस क्षेत्र में प्रवेश किया था। वस्तुतः ये कोरे नाटककार ही न थे, सफल अभिनेता भी थे। इसलिए उनके लिखे नाटकों में सबसे बड़ी खूबी यह है कि वे साहित्य और अभिनय, दोनों कसौटियों पर खरे उतरते हैं। आगे के नाटकों में ये दोनों विशेषताएँ सम्मिलित रूप में प्रायः कम ही पायी जाती हैं।

आधुनिक युग : उत्तरार्द्ध—

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' स्वर्गवास के पश्चात् भी हिन्दी नाटकों का विकास पूर्वगति से हो रहा है एवं कुछ तो उनके समकालीन और कुछ नये लेखकों ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। यद्यपि कुछ आलोचकों को वर्तमान नाटककारों में प्रसाद जी की प्रतिभा के दर्शन न होने का बराबर क्षोभ रहा है; परंतु इसमें संदेह नहीं कि आज के नाटकों में राष्ट्रीय, सामाजिक, धार्मिक और मानवीय जीवन के विविध अंगों पर अधिक उदार, पैनी और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डाली गयी है। यह सत्य है कि आज के नाटककारों में सर्वोपरि पद का सर्वमान्य अधिकारी अभी नहीं चुना जा सका है; परंतु संतोष का विषय यह है कि कई लेखक इस दिशा में प्रयत्नशील हैं और होड़ तथा प्रतिद्वंद्विता की भावना विद्यमान रहने पर भी संभवतः किसी ने शील-सौजन्य को हाथ से नहीं जाने दिया है। वर्तमान नाटककारों की प्रमुख कृतियों का वर्गीकरण, स्थूल रूप से, इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) पौराणिक नाटक—सेठ गोविन्ददास-कृत कर्तव्य १९३५, उदयशंकर भट्ट-कृत अंबर १९३५, सागर-विजय १९३७, मत्स्यगंधा १९३७ और विश्वामित्र १९३८; चतुरसेन शास्त्री-कृत मेघनाद १९३६, सीताराम १९३९, और श्रीराम १९४०; किशोरी दास बाजपेयी-कृत सुदामा १९३९ जो द्वितीय संस्करण में 'द्वापर की राज्यक्रांति' के नाम से प्रकाशित हुआ; बेचन शर्मा उग्र-कृत गंगा का बेटा १९४०, लक्ष्मणस्वरूप कृत नल-दमयंती १९४१ और गोकुलचंद शर्मा-कृत जयद्रथ-वध।

(ख) ऐतिहासिक नाटक—उदयशंकर भट्ट-कृत चंद्रगुप्त मौर्य १९३१, विक्रमादित्य १९३३, दाहर या सिंधु-पतन १९३४; चंदगुप्त विद्यालंकार के अशोक १९३५ और रेवा १९४२; गोविंदवल्लभ पंत के राजमुकुट १९३५ और अंतःपुर का छिद्र, कैलाशनाथ भटनागर के कुणाल १९३७ और श्रीवत्स १९४१, उपेंद्रनाथ 'अश्क' का जय-पराजय, हरिकृष्ण प्रेमी के रक्षा-बंधन १९३४, शिवा-साधना और

प्रतिशोध १९३७, स्वप्न भंग और आहुति १९४० तथा मंदिर १९४२; लक्ष्मीनारायण मिश्र के अशोक १९२६ और वत्सराज १९५०; सेठ गोविंददास-कृत हर्ष, १९३५, कुलीनता १९४२ और शशिगुप्त १९४२; वृंदावनलाल वर्मा का हंसमयूर और पूर्व की ओर १९५०।

(ग) सामयिक, समस्या और राष्ट्रीयता-प्रधान नाटक—सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के संन्यासी, राक्षस का मंदिर १९३१, मुक्ति का रहस्य १९३२, राजयोग १९३४, सिंदूर की होली १९३४ और आधी रात १९३७; बेचन शर्मा 'उग्र' के डिक्टेटर १९३७, चुंबन १९३८ और आवारा १९४२; गोविंदवल्लभ पंत का अंगूर की बेटी १९३७, भगवती प्रसाद बाजपेयी का छलना १९३९, वृंदावनलाल का धीरे-धीरे १९३९, सेठ गोविंददास के विकास १९४१, सेवा पथ १९४० और प्रकाश, उपेंद्रनाथ 'अश्क' का स्वर्ग की झलक १९४० और हरिकृष्ण प्रेमी' के छाया १९४१ और बंधन १९४१।

उक्त लेखकों में 'प्रेमी' जी ने अपने नाटकों का विषय मुख्यतः भारतीय इतिहास के मुसलिम काल से चुना है—इसमें इनको सफलता भी मिली है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने योरप के साहित्य-संपन्न देशों के यथातथ्यवाद—जो समस्या जैसी है उसके ज्यों के त्यों वास्तविक रूप—को लेकर प्रारंभ में 'समस्या-प्रधान' नाटक लिखे थे; इधर उनकी रुचि ऐतिहासिक नाटकों की ओर अधिक है। भट्टजी के नाटकों के विषय मुख्यतः पौराणिक हैं। नाट्य-कला की दृष्टि से उन्होंने इनका सुन्दर उपयोग किया है। सेठ जी तथा अन्य लेखकों के नाटक भी पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक हैं।

अनुवाद-कार्य—इन १५-२० वर्षों में बँगला और अँगरेजी से सुन्दर और सफल अनुवाद कम हुए। जो हुए भी वे या तो पूर्वानुवादों की सहायता से प्रस्तुत किये गये या बहुत साधारण हैं। हां, जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे के सुन्दर नाटक 'फाउस्ट' का अनुवाद बरेली कालेज के प्रोफेसर पं० भोलानाथ शर्मा ने बड़े परिश्रम से किया है। विद्वान

अनुवादक ने इसके लिए जर्मन भाषा सीखी है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद का काम भी मंदगति से चल रहा है।

गीत-नाट्य—

नाट्य साहित्य-विकास के प्रस्तावना-काल में संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर जिस प्रकार पद्यबद्ध नाटक लिखे गये थे उसी प्रकार इधर भी कुछ गीत-नाट्यों की रचना हुई है। इन्हें हम भाव-नाट्य भी कह सकते हैं। इनका आरम्भ 'प्रसाद' जी के 'करुणालय' और बाबू मैथिली-शरण जी के 'अनघ' से समझना चाहिए। इनमें प्रथम तो अत्यन्त भावपूर्ण काव्य के रूप में हमारे सामने आता है और दूसरा कथोप-कथन प्रधान पद्यबद्ध सामाजिक नाटक के रूप में। पं० उदयशंकर भट्ट का मत्स्यगंधा इस प्रकार की सुन्दर आधुनिक रचना है।

एकांकी नाटक—

इधर छोटे एकांकी नाटकों की रचना होने लगी है। हिन्दी-पाठक इन्हें पसन्द भी कर रहे हैं। कुछ आलोचकों का कहना है कि एकांकी नाटक लिखने की प्रेरणा अँगरेजी से मिली है। वस्तुतः ये संस्कृत के उपनाटक के ही आधुनिक रूप हैं। इनके लेखकों में सर्वश्री भुवनेश्वर प्रसाद, गणेशप्रसाद द्विवेदी, राजकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सद्गुरुशरण अवस्थी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', लक्ष्मी-नारायण मिश्र का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इन लेखकों के एकांकियों के कुछ संग्रह इधर प्रकाशित हुए हैं। उक्त लेखकों से अभी इस दिशा में बहुत आशा है।

समीक्षा—

सारांश यह कि आधुनिक युग में नाटक साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की है; और हमें अपने नाटककारों पर गर्व भी होने लगा है। परन्तु इनके, मुख्यतः 'प्रसाद' जी के, नाटकों में एक कमी यह बतायी

जाती है कि ये अभिनय-योग्य नहीं हैं । इस कथन में तो कुछ तथ्य तो अवश्य हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि प्रसिद्ध नाटकों के अभिनय का हमने उचित प्रयत्न भी नहीं किया है । भाषा की क्लिष्टता अभिनय में बाधक होती है, परन्तु यदि प्रयत्न किया जाय तो अन्य विशेषताओं के कारण अनेक नाटककारों के, हम तो कहेंगे 'प्रसाद' जी के भी, नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय किया जा सकता है ।

रही नाट्यकला सम्बन्धी बात । हमारे आधुनिक नाटककार आक्षेप-योग्य बातों को क्रमशः दूर करते रहे हैं और उनके नये नाटक उन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं, जिनके लिए पाश्चात्य आलोचक नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही इनसे मुक्ति पाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था । 'प्रसाद' जी तक आते-आते हमारे नाटक बहुत-कुछ दोष-रहित हो गये और अब हमें आशा होती है कि भविष्य में हिन्दी-नाट्य-साहित्य और भी अधिक उन्नति करेगा ।

समाप्त

आलोचना निबन्ध